

Barcode - 5990010118737
Title - Atharwedbhashyam_part 18th
Subject - Literature
Author - Pundit Chhemkarandash Trivedina
Language - hindi
Pages - 246
Publication Year - 1919
Creator - Fast DLI Downloader
<https://github.com/cancerian0684/dli-downloader>
Barcode EAN.UCC-13



॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शुद्र उतार्य ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

अष्टादशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायां ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ	}	संवत् १९७६ वि०	}	मूल्यम् २।=)
१००० पुस्तकानि		सन् १९१६ ई०		

॥ ओ३म् ॥

“वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है” ॥

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था। इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—संस्वर मूल मन्त्र, ३—संस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों के कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणाँ से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक बी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित		२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)		१।-)	१।।-)	२)	१।।।=)	३)	२।)	२)	२।)	२।।)	२।)
काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	पृष्ठ ३,८५० लगभग
मूल्य	२=)	१।।=)	१।)	१-)	१।-)	१।=)	२।=)					३१।।)

काण्ड—१६ छप रहा है। कांड २० शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य १)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेजी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य १=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य १)॥

वेदविद्यार्ये—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

१५ जून १९१६।

Onkar Press Allahabad.

५२, लूकरगंज, प्रयाग । (Allahabad).

210
44

362
32
3

१-सूक्तविवरण अथर्ववेद कार्ड १८ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
सूक्तम् १ ॥				
मन्त्राः १-१६	ओ चित् सखायं सख्या	यमयमी	भाईबहिन के परस्पर	त्रिष्टुप् आदि
" १७-२६	ग्रीणि च्छन्दांसि कवयो	अग्नि	विवाह का निषेध	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
" २७-३६	अन्वग्निरुषसामग्र	अग्नि	विद्वानों के कर्तव्य	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
" ३७, ३८	सखाय आ शिषामहे	इन्द्र	परमात्मा के गुण	निचृदुष्णिक् आदि
" ३९	स्तेगो न क्षामत्येषि	मित्र	राजा का चुनाव	निचृदार्षी त्रिष्टुप्
" ४०	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	रुद्र	राजा का कर्तव्य	निचृत् त्रिष्टुप्
" ४१-४३	सरस्वतीदेवयन्तो हवन्ते	सरस्वती	सरास्वतीकाआवाहन	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
" ४४-४६	उदीरतामवर उत्परास	पितर	पितरों के सत्कार	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
" ४७	मातली क्रव्यैर्यमो	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् छन्दः
" ४८	स्वादुष्किलायं मधुमा	सोम	शूरवीर के लक्षण	त्रिष्टुप् छन्दः
" ४९, ५०	परेयिवासं प्रवतो मही	यम	परमात्मा की शक्ति	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५१, ५२	बर्हिषदः पितर ऊत्य	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	विराडार्षी आदि
" ५३	त्वष्टा दुहित्रे वहतु	त्वष्टा	अज्ञान का नाश	त्रिष्टुप्
" ५४, ५५	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	पितर	मनुष्य की उन्नति	निचृत् त्रिष्टुप्
" ५६, ५७	उशन्तस्त्वेधीमह्यु	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	अनुष्टुप्
" ५८-६१	अङ्गिरसो नः पितरो	पितर	तथा	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
सूक्तम् २ ॥				
मन्त्राः १-३	यमाय सोमः पवते	यम	ईश्वर की भक्ति	अनुष्टुप् आदि
" ४-१०	मैनमग्ने विदहो माभि	अग्नि	आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्तव्य	निचृज् जगती आदि
" ११-१३	अति द्रव श्वानौ	श्वान	समय के सुप्रयोग	त्रिष्टुप् आदि
" १४-१८	सोम एकेभ्य पवते	यम	विद्वानों का सत्संग	अनुष्टुप्
" १९-२०	स्योनास्मै भव पृथिव्य	पृथिवी	पृथिवी की विद्या	गायत्री आदि
" २१-३०	ह्वयामि ते मनसा मन	पितर	मनुष्यों का पितरों के साथ कर्तव्य	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ३१-३३	अश्वावतीं प्रतर या	प्रजापति	ईश्वर के गुण	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
" ३४, ३५	ये निष्ठाता ये परोष्ठा ये	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
" ३६	शं तप माति तपो अग्ने	अग्नि	बल बढ़ाना	आर्ष्यनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
" ३७	ददाम्यस्मा अवसान	यम	परमात्मा की आश्वा पालना	विराड् जगती
" ३८-४५	इमां मात्रां मिमीमहे	प्रजापति	मोक्ष के लिये प्रयत्न	गायत्री आदि
" ४६-४६	प्राणो अपानो व्यान	पितर	पितरों के गुण	भुरिगनुष्टुप् आदि
" ५०-५२	इदमिद् वा उ नापरं	भूमि	परमात्मा की उपा- सना	अनुष्टुप् आदि
" ५३-५५	अग्नीषोमा पथिकृता	पूषा	सत्पुरुषों के मार्ग पर चलना	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५६	इमौ युनजिम ते वही	परमात्मा	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप्
" ५७-६०	एतत् त्वा वासः प्रथमं	जीवात्मा	सुकर्म करना	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
सूक्तम् ३ ॥				
मन्त्राः १-४	इयं नारी पतिलोकं	नारी	नियोग विधान	त्रिष्टुप् आदि
" ५-६	उपद्यामुप वेतस	अग्नि	उन्नति करना	निचृद् गायत्री आदि
" १०-२४	वर्चसा मां पितरः	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
" २५-२६	इन्द्रो मा मरुत्वान्	प्रजापति	सब दिशाओं में रक्षा	निचृदार्षी जगती आदि
" ३०-३७	प्राच्यां त्वा दिशि	ईश्वर	सर्वत्र परमेश्वर है	अतिजगती आदि
" ३८-४१	इतश्चमामुतश्चावतां	स्त्री पुरुष	मनुष्यों के कर्तव्य	विराट् त्रिष्टुप् आदि
" ४२-४८	त्वमग्न ईडितो जात	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
" ४९-५२	उप सर्प मातरं	पृथिवी	पृथिवी के उपकार	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५३-६०	इममग्ने चमसं मा	अग्नि	घर की रक्षा	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
५५	यत् ते कृष्णः शकुन	अग्नि	विष औषध अग्नि	त्रिष्टुप्
" ६१-६४	विवस्वान् नो अभयं	यम	अभय पाना	त्रिष्टुप् आदि
" ६५-६७	प्रकेतुनावृहताभात्य	अग्नि, इन्द्र	राजा के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
" ६८-७३	अपूपापिहितान्	प्रजापति	गृहाश्रम के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
सूक्तम् ४ ॥				
मन्त्राः १-१५	आ रोहत जनिर्ग्री	प्रजापति	सत्यमार्ग पर चलना	भुरिगार्षी त्रिष्टुप् आदि
" १६-२७	अपूपवान् क्षीरवांश्च	यज्ञ	यजमान के कर्तव्य	भुरिगार्षी बृहती आदि
" २८, २९	द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी	ईश्वर	ब्रह्म की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
" ३०-४०	कोशं दुहन्ति कलशं	धेनु	गोरक्षा	त्रिष्टुप् आदि
" ४१-४४	समिन्धते अमर्त्यं	पितर	पितरों की सेवा	अनुष्टुप् आदि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
" ४५-४७ " ४८-५२	सरस्वतीं देवयन्तो पृथिवीं त्वा पृथिव्या	सरस्वती पितर	सरस्वतीका आवाहन पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य	निचृत् त्रिष्टुप् भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५२-५४	पर्यो राजापिधानं	परमेश्वर	परमात्मा की भक्ति के फल	आर्षी पङ्क्ति आदि
" ५५-५७	यथा यमाय हर्म्य	जीव	मनुष्य को वृद्धि करना	अनुष्टुप् आदि
" ५८-६०	वृषा मतीनां पवने	परमेश्वर	ईश्वर की उपासना	जगती आदि
" ६१-६८	अक्षन्मीमदन्त	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
" ६६-७०	उदुत्तमं वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	त्रिष्टुप्
" ७१-८७	अग्नये कव्यवाहनाय	पितर	पितरों के सन्मान	आसुर्यनुष्टुप् आदि
" ८८	आ त्वाग्न इधीमहि	अग्नि	परमात्मा की उपासना	स्वराडार्षी बृहती
" ८९	चन्द्रमा अस्व १न्तरा	विश्वेदेवा	सूर्यचन्द्र आदि विषय	निचृदार्षी पङ्क्तिः

२—अथर्ववेद काण्ड १८ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
१-५	ओचित् सखायं सख्या	१। १-५	१०। १०। १-५		
६	को अद्य युङ्क्ते धुरि	१। ६	१। ८४। ६		
७-१२	को अस्य वेद प्रथमस्या	१। ७-१२	१०। १०। ६-११		
१३	न ते नाथं यम्यत्राह	१। १३	१०। १०। १२		
१४	न वा उ ते तनू	१। १४	१०। १०। १२		
१५, १६	बतो बतासि यम	१। १५, १६	१०। १०। १३, १४		
१७-२३	वृषा वृष्णे दुदुहे	१। १८-२४	१०। ११। १-७		
२४	श्रुधी नो अग्नि सद्ने	१। २५	१०। ११। ८		
२५	यदग्न एषा समिति	१। २६	१०। ११। ८		
२६	अन्वशिरुषसा	१। २७	४। १३। १		
२७, २८	द्यावाह क्षामा	१। २८, ३०	१०। १२। १, २		
२९	अर्चामि वां वर्धय	१। ३१	१०। १२। ४		
३०	स्वावृग् देवस्या	१। ३२	१०। १२। ३		
३१-३४	किंस्विन्नो राजा	१। ३३-३६	१०। १२। ५-८		
३५	सखाय आ शिषामहे	१। ३७	८। २४। १		पृ० ४। १। १०

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वाचिक उत्तराचिक इत्यादि
३६	शवसा ह्यसि श्रुतो	१।३८	८।२४।२		
३७	स्तेगो ने क्षामत्येषि	१।३९	१०।३१।६		
३८	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	१।४०	२।३३।११		
३९-४१	सरस्वती देवयन्तो	१।४१-४३	१०।१७।७-९	१९।४६, } ५६, ६८ }	
४२-४४	उदीरतामवर उत्परास	१।४४-४६	१०।१५।१,२,२		
४५	मातली क्रव्यैर्यमो	१।४७	१०।१४।३		
४६	स्वादुष्किलायं	१।४८	६।४७।१		
४७, ४८	पर्येयिवांसं प्रवतो	१।४९, ५०	१०।१४।१,२		
४९, ५०	बर्हिषदः पितर	१।५१, ५२	१०।१५।४, ६	१९।५५, ६२	
५१	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	१।५३	१०।१७।१		
५२	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	१।५४	१०।१४।७		
५३	अपेत वीत वि च	१।५५	१०।१४।९	१२।४५	
५४	उशन्तस्त्वेधी मह्यु	१।५६	१०।१६।१२	१९।७०	
५५	अङ्गिरसो नः पितरो	१।५८	१०।१४।६	१९।५०	
५६, ५७	अङ्गिरोभिर्यज्ञियै	१।५९, ६०	१०।१४।५, ७		
५८	इत एत उदारुहन्	१।६१			५०१।१०।२
५९-६१	यमाय सोमः पवते	२।१-३	१०।१४।१३, १५, १४		
६२, ६३	मैनमग्ने विदहो	२।४, ५	१०।१६।१, २		
६४	त्रिकद्रुकेभिः पवते	२।६	१०।१४।१६		
६५, ६६	सूर्यं चक्षुषा गच्छ	२।७, ८	१०।१६।३, ४		
६७	अव सृज पुनरग्ने	२।१०	१०।१६।५		
६८-७०	अति द्रव श्वानौ	२।११-१३	१०।१४।१०-१२		
७१-७५	सोम एकेभ्यः पवते	२।१४-१८	१०।१५।१, ४, २, ३, ५	३५।२१	
७६	स्योनारमै भवपृथ	२।१९	१।२२।१५		
७७	ह्वयामि ते मनसा	२।२१	१०।१४।८		
७८	ये दस्यवः पितृषु	२।२८		२।३०	
७९	अपागूहन्नमृतां	२।३३	१०।१७।२		
८०	ये अग्निदग्धा	२।३५	१०।१५।१४, १३	१९।७, ६७	
८१	इदमिदं वा उ नापरं	२।५०	१०।१८।११		
८२, ८३	पूषा त्वेतश्च्यावयतु	२।५४, ५५	१०।१७।३, ४		
८४	अग्नेर्धर्म परिगोभि	२।५८	१०।१६।७		
८५, ८६	दण्डं हस्तादाददानो	२।५९, ६०	१०।१८।९		
८७	उदीष्व नायभि	३।२	१०।१८।८		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
८८	उपद्यामुप वेतस	३।५		१७।६	
८९	यं त्वमग्ने समदह	३।६	१०।१६।१३		
९०	इदंत एकं पर उत	३।७	१०।५६।१		पू०।१।७।३
९१	अजते व्यजते	३।१८	६।८६।४३	१६।६६	पू०।६।७।११
९२-९४	अधा यथा नः पितरः	३।२१-२३	४।२।१६-१८		उ०।७।३।२१
९५	अकर्म ते स्वपसो	३।२४	४।२।१६, २।२३।१६	३४।५८	
९६	इतश्च मासुतश्चावतां	३।३८	१०।१३।२		
९७	स्वासस्थेभवतमिन्द	३।३९	१०।१३।१,२	११।५	
९८, ९९	त्रीणि पदानिरूपो	३।४०, ४१	१०।१३।३, ४		
१००	त्वमग्न ईदितो जात	३।४२	१०।१५।१२	१६।६६	
१०१	आसीनासो अरुणीना	३।४३	१०।१५।७	१६।६३	
१०२	अग्निष्वात्ताः पितर	३।४४	१०।१५।११	१६।५६	
१०३	उपहृता नः पितरः	३।४५	१०।१५।५	१६।५७	
१०४	ये नः पितुः पितरो ये	३।४६	१०।१५।८	१६।५१	
१०५, १०६	ये तातृषुर्देवत्रा	३।४७, ४८	१०।१५।६, १०		
१०७-११०	उप सर्प मातरं भूमि	३।४९-५२	१०।१८।१०-१३		
१११	इममग्ने चमसं मा	३।५३	१०।१६।८		
११२	यत् ते कृष्णः शकुन	३।५५	१०।१६।६		
११३	पयस्वतीरोषधय	३।५६	१०।१७।१४		
११४	इमा नारीरविधवाः	३।५७	१०।१८।७		
११५	सं गच्छस्व पितृभिः	३।५८	१०।१४।८		
११६	ये नः पितुः पितरो	३।५९	१०।१५।१४	१६।६०	
११७	शं ते नीहारो भवतु	३।६०	१०।१६।१४		
११८	आ रोहत दिवमुत्त	३।६४	...	२०।२१	
११९	प्र केतुना बृहता	३।६५	१०।८।१ ६।७३।१	...	पू०।१।७।६
१२०	नाके सुपर्णमुप यत	३।६६	१०।१२३।५	...	{ पू०।४।३।८ उ०।६।२।१३
१२१	इन्द्र क्रतुं न आ भर	३।६७	७।३२।२६	...	{ पू०।३।७।७ उ०।६।३।६
१२२	अयः सुपर्णा उपरस्य	४।४	१।१६४।२०		
१२३	अग्निर्होताध्वर्युष्टे	४।१५	१०।७१।११		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१२४	द्रप्सश्चस्कन्द	४।२८	१०।१७।११	१३।५	
१२५	शतधारं वायुमकं	४।२६	१०।१०७।४		
१२६	कोशं दुहन्ति कलशं	४।३०		१३।४६	
१२७	सहस्रधारं शतधार	४।३६		१३।४६	
१२८	वृषा मतीनां पवते	४।५८	६।८६।१६		
				...	{ पू० ६।७।६ उ० २।१।१७
१२९	त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु	४।५६	६।२।६		
१३०	प्र वा एतीन्दुरिन्द्र	४।६०	६।८६।१६	...	{ पू० १।६।३ पू० ६।७।४ उ० ४।२।७
१३१	अक्षन्मीमदन्त	४।६१	१।८२।२	३।५१	पू० ५।३।७
१३२	अभूद् दूतः प्रहितो	४।६५	४।५४।१	५।२६	
१३३	शुभन्तां लोकाः	४।६७		२।२६	
१३४, १३५	अग्नये कव्यवाह	४।७१, ७२		६।२	
१३६-१३८	स्वधा पितृभ्य	४।७८-८०		२।३२	
१३९-१४३	नमो व पितर ऊर्जे	४।८१-८५			
१४४	आत्वाग्नि इधीमहि	४।८८	५।६।४	...	{ पू० ५।४।१ उ० ३।२।२१
१४५	चन्द्रमा अस्वन्त	४।८९	१।१०५।१	३३।६०	पू० ५।३।६

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

अष्टादशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [मन्त्राः १-६१] ॥

मन्त्राः १-१६ ॥

यमयम्यौ देवते ॥ १, ५, ६—११ त्रिष्टुप् ; २ विराट् त्रिष्टुप् ; ३, ४, ६, १७, १२, १३ निचृत् त्रिष्टुप् ; ८ विराट् छन्दः ; १४ भुरिक् त्रिष्टुप् ; १५ आर्षी पङ्क्तिः ; १६ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

भ्रातृभगिनीपरस्परविवाहनिषेधोपदेशः—भाई बहिन के परस्पर विवाह के निषेध का उपदेश ॥

ओ चित् सखायं सुख्या ववृत्यां तिरः पुरु चिदर्णवं जगु-
न्वान् । पितुर्नपातुमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतुरं
दीध्यानः ॥ १ ॥

ओ इति । चित् । सखायम् । सुख्या । ववृत्याम् । तिरः ।
पुरु । चित् । अर्णवम् । जुगुन्वान् ॥ पितुः । नपातम् ।
आ । दधीतु । वेधाः । अधि । क्षमि । प्र-तुरम् । दीध्यानः १

भाषार्थ—(ओ) ओ ! [हे पुरुष !] (सखायम्) [तुम्हें] मित्र

१—(ओ) सम्बोधने (चित्) एव (सखायम्) सुहृदम् (सुख्या)

को (चित्) ही (सख्या) मित्रता के साथ (ववृत्याम्) मैं [स्त्री] प्रवृत्त करूँ—(पुरु चित्) बहुत ही प्रकार से (अर्णवम्) विज्ञान युक्त शास्त्र को (तिरः जगन्वान्) पार जा चुकने वाले, (प्रतरम्) बहुत अधिक (दीध्यानः) प्रकाशमान, (वेधाः) बुद्धिमान् आप (पितुः) [अपने] पिता के (नपातम्) माती [पौत्र] को (क्षमि अधि) पृथिवी पर (आ दधीत) धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र स्त्री का वचन है। हम दोनों बड़े प्रेमी हैं, तू वेद आदि शास्त्रों का जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष है, ऐसा प्रयत्न किया जावे कि हम दोनों के सम्बन्ध से उत्तम सन्तान उत्पन्न हो ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १-१६ में यमीयम अर्थात् जोड़िया बहिन और भाई को संवाद वा प्रश्न उत्तर की रीति से यह बताया है कि वे दोनों बहिन भाई होकर परस्पर विवाह कभी न करें, किन्तु बहिन भाई से अन्य पुरुष के साथ और भाई बहिन से दूसरी स्त्री के साथ विवाह करे ॥

मन्त्र १-५ । अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । १-५ ॥

न ते सखा सुख्यं वृष्टयेतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धृतरि उर्विया परि ख्यन् २
न । ते । सखा । सुख्यम् । वृष्टि । एतत् । स-लक्ष्मा । यत् ।
विषु-रूपा । भवाति ॥ महः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः ।
दिवः । धृतरिः । उर्विया । परि । ख्यन् ॥ २ ॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेराकारः । सख्येन । मित्रत्वेन (ववृत्याम्) वृत्तु वर्तने—लिङ्, शपः श्लुः । प्रवर्तयेयम् (तिरः) पारे (पुरु) बहुप्रकारेण (चित्) एव (अर्णवम्) अर्णवं विज्ञानम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० १२ । ४६ । धापृथ्वस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । ऋ गतिप्रापणयोः—नप्रत्ययः, ततो मत्वर्थीयो वः । विज्ञानयुक्तं शास्त्रम् (जगन्वान्) गमेर्लिङ् कसुः । गतवान् (पितुः) स्वजनकस्य (नपातम्) नप्तारं पौत्रम् (आदधीत) आदध्यात् । सम्-न्ताद् धारयतु (वेधाः) मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधावी भवान् (क्षमि अधि) भूमेरुपरि (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दीध्यानः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानः ॥

भाषार्थ—(सखा) [यह] प्रेमी (ते) तेरी (एतत्) यह (सख्यम्) प्रीति (न) नहीं (वष्टि) चाहता है—(यत्) कि (सलक्ष्मा) समान [धार्मिक] लक्षण वाली [आप] (विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल अधार्मिक] (भवाति) हो जावे । (महः) महान् (असुरस्य) बुद्धिमान् पुरुष के (दिवः) व्यवहार के (धर्तारः) धारण करने वाले, (वीराः) वीर (पुत्रासः) पुत्र (उर्विया) भूमि पर (परि ख्यन्) विख्यात हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र पुरुष का उत्तर है । हे स्त्री ! तू जो मुझ से पुत्र की कामना करती है सो उचित नहीं, हम दोनों धर्मात्मा होकर अधर्म न करें—क्योंकि बड़े कुल में उत्पन्न व्यवहारकुशल धर्मात्मा वीर ही संसार में कीर्तिमान होते हैं ॥ २ ॥

उ॒श॒न्ति॒ घ्रा॒ ते॒ अ॒मृ॒ता॒स ए॒तदे॒कस्य॑ चि॒त् त्य॒जसुं॑ म॒र्त्यस्य॑ ।
नि॒ ते॒ मनो॑ मन॑सि धा॒य्यस्मे॑ ज॒न्युः पति॑स्त॒न्वस्मा॑ वि॒विश्याः॑ ३
उ॒श॒न्ति॒ । घ्रा॒ । ते॒ । अ॒मृ॒ता॒सः । ए॒तत् । एक॑स्य । चि॒त् ।
त्य॒जसु॑म् । म॒र्त्यस्य॑ ॥ नि॒ । ते॒ । मनः॑ । मन॑सि । ध्रा॒यि ।
अ॒स्मे इति॑ । ज॒न्युः । पतिः॑ । त॒न्वस्मा॑ । आ । वि॒विश्याः॑ ॥३॥

भाषार्थ—(ते) वे (अमृतासः) अमर [यशस्वी] लोग (घ) अवश्य (एतत्) इस प्रकार से (एकस्य) एक [अद्वितीय, अति श्रेष्ठ] (मर्त्यस्य)

२—(न) निषेधे (ते) तव (सखा) प्रियः (सख्यम्) प्रीतिम् (वष्टि) कामयते (एतत्) (सलक्ष्मा) समानलक्षणा । धर्मशीला (यत्) यतः (विषुरूपा) नानास्वभावा । चञ्चला । अधार्मिका (भवाति) भवेत् (महः) महतः (पुत्रासः) पुत्राः (असुरस्य) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६, रो मत्वर्थीयः । प्रज्ञावतः पुरुषस्य (वीराः) विक्रान्ताः (दिवः) व्यवहारस्य (धर्तारः) धारकाः (उर्विया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३६ । उर्वी-डियाच् । उर्व्या भूमौ (परि ख्यन्) ख्या प्रकथने, प्रसिद्धौ—लुङ्, अडभावः । विख्याता अभूवन् ॥

३—(उशन्ति) कामयन्ते (घ) प्रसिद्धौ (ते) प्रसिद्धाः (अमृतासः) अमराः । यशस्विनः (एतत्) अनेन प्रकारेण (एकस्य) अद्वितीयस्य । अतिश्रेष्ठस्य (चित्)

मनुष्य के (चित्) ही (त्यजसम्) सन्तान की (उशन्ति) कामना करते हैं ।
 (ते मनः) तेरा मन (अस्मे) हमारे (मनसि) मन में (नि धायि) जमाया
 जावे, और (जन्युः) उत्पन्न करने वाला (पतिः) पति [होकर] (तन्वम्)
 [मेरे] शरीर में (आ विविश्याः) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है । महात्मा लोग मानते हैं कि अद्वितीय
 वीर पुरुष का सन्तान अद्वितीय वीर होता है, इस लिये तू श्रेष्ठ होकर मेरे
 साथ विवाह करके श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

न यत् पुरा चकुमा कद्धं नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।
 गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सानौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ४
 न । यत् । पुरा । चकुम । कत् । ह । नूनम् । ऋतम् । वदन्तः ।
 अनृतम् । रपेम ॥ गन्धर्वः । अप्-सु । अप्या । च । योषा ।
 सा । नौ । नाभिः । परमम् । जामि । तत् । नौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [कर्म] (पुरा) पहिले (न चकुम) हम ने
 नहीं किया, (कत्) कैसे (ह) निश्चय करके (नूनम्) अब (ऋतम्)
 सत्य (वदन्तः) बोलते हुये हम (अनृतम्) असत्य (रपेम) बोलें । [जैसे]
 (अप्सु) सत्कर्मों में (गन्धर्वः) दृष्टि रखने वाला पुरुष (च) और (अप्या)
 सत्कर्मों में प्रसिद्ध (योषा) सेवा करने वाली स्त्री [होवे], (सा) वही (नौ)

एव (त्यजसम्) त्यज हानौ दाने च—असुनं । सन्तानम् (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य
 (नि) निश्चयेन । नियमेन (ते) तव (मनः) चित्तम् (मनसि) चित्ते
 (धायि) धीयताम् (अस्मे) अस्माकम् (जन्युः) भुजिमृद्भ्यां युक्त्यकौ ।
 उ० ३ । २१ । जन जनने-युक् । जनयिता (पतिः) त्वं पतिः सन् (तन्वम्) मम
 तनूँ शरीरम् (आ विविश्याः) विश प्रवेशने—लिङ्, शपःश्लुः । प्रविश ॥

४—(न) निषेधे (यत्) यस्मात् कारणात् (पुरा) पूर्वकाले (चकुम)
 वयं कृतवन्तः (कत्) कथम् (ह) निश्चयेन (नूनम्) इदानीम् (ऋतम्)
 सत्यम् (वदन्तः) कथयन्तः (अनृतम्) असत्यम् (रपेम) कथयेम (गन्धर्वः)
 गां दृष्टिं धरतीति यः सः (अप्सु) सत्कर्मसु (अप्या) अप्यः, अप्सु सत्कर्मसु
 भवः—दयानन्दभाष्ये, ऋग्० ६ । ६७ । ६ । सत्कर्मसु प्रसिद्धा (च) (योषा)

हम दोनों की (नाभिः) बन्धुता, और (तत्) वह (नौ) हम दोनों का (परमम्) सब से बड़ा (जामि) सम्बन्ध [होवे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है । तू कहती है—श्रेष्ठ पुरुष का सन्तान श्रेष्ठ होता है, परन्तु मैं भयादा तोड़कर असत्य कभी नहीं बोलूंगा । स्त्री पुरुष सदा सत्कर्म करें, यही दोनों में परस्पर बड़े स्नेह का कारण है ॥ ४ ॥

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्दे वस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ५
गर्भे । नु । नौ । जनिता । दंपती इति दम्-पती । कः ।
देवः । त्वष्टा । सविता । विश्व-रूपः ॥ नकिः । अस्य । प्र ।
मिनन्ति । व्रतानि । वेद । नौ । अस्य । पृथिवी । उत । द्यौः ५

भाषार्थ—(जनिता) उत्पन्न करने वाले, (देवः) प्रकाशमान, (त्वष्टा) बनाने वाले, (सविता) प्रेरक, (विश्वरूपः) सब के रूप देने वाले परमेश्वर ने (गर्भे) गर्भ में (नु) ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) पति पत्नी (कः) बनाया है । (अस्य) इस [परमेश्वर] के (व्रतानि) नियमों को (नकिः प्र मिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ सकते, (नौ) हम दोनों के लिये (अस्य) इस [बात] को (पृथिवी) पृथिवी (उत) और भी (द्यौः) सूर्य (वेद) जानता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन । परमात्मा ने अपने अटल नियम से माता के गर्भ में ही हम दोनों को एक साथ जोड़िया उत्पन्न करके पति पत्नी बनाया है,

युष भजने-अच्, टाप् । सेवाशीला स्त्री (सा) (नौ) आवयोः (नाभिः) बन्धुता (परमम्) निरतिशयम् (जामि) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ ।
जमु अदने-इज् । सम्बन्धः (तत्) (नौ) आवयोः ॥

५—(गर्भे) गर्भाशये (नु) निश्चयेन (नौ) आवाम् (जनिता) उत्पादकः (दम्पती) जायापती । पतिपत्न्यौ (कः) करोतेर्लुङ् । अकः । कृतवान् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) प्रेरकः (विश्वरूपः) सर्वस्य रूपकर्ता (नकिः) न केऽपि (अस्य) परमेश्वरस्य (प्र) (मिनन्ति) मीज् हिंसायाम् । ह्रस्वः प्वादित्वात् । हिंसन्ति । अतिक्रामन्ति (व्रतानि) कर्माणि (वेद) जानाति (नौ) आवाम्भ्याम् (अस्य) इदं वचनम् (पृथिवी) (उत) अपि च (द्यौः) सूर्यः ॥

जैसे यह प्रत्यक्ष है कि सृष्टि की आदि से सूर्य और पृथिवी में पतिपत्नी भाव है क्योंकि सूर्य वृष्टि करता है पृथिवी उसे ग्रहण करके अन्न आदि उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्ह-
णायून् । आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत्
स जीवात् ॥ ६ ॥

कः । अद्य । युङ्क्ते । धुरि । गाः । ऋतस्य । शिमी-वतः ।
भामिनः । दुः-हृणायून् ॥ आसन्-इषून् । हृत्सु-असः । मयः-
भून् । यः । एषाम् । भृत्याम् । ऋणधत् । सः । जीवात् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [प्रजापति] परमेश्वर (अद्य) आज (ऋतस्य)
सत्य के (गाः) गाने वाले, (शिमीवतः) उत्तम कर्म वाले, (भामिनः) तेजस्वी
(दुर्हणायून्) [शत्रुओं पर] भारी क्रोध वाले, (आसन्निषून्) ठीक स्थान पर
वाण पहुँचाने वाले, (हृत्स्वसः) [शत्रुओं के] हृदयों में शस्त्र मारने वाले और
(मयोभून्) [धर्मात्माओं को] सुख देने वाले वीरों को (धुरि) धुरी
[भारी बोझ] में (युङ्क्ते) जोड़ता है, (यः) जो पुरुष (एषाम्) इन
[वीरों] की (भृत्याम्) पोषण रीति को (ऋणधत्) बढ़ावेगा, (सः) वह
(जीवात्) जीवेगा ॥ ६ ॥

६—(कः) करोतेर्ङप्रत्ययः । कर्ता । प्रजापतिः परमेश्वरः (अद्य) अस्मिन्
दिने (युङ्क्ते) योजयति (धुरि) भारे (गाः) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ ।
१६ । गायकान् (शिमीवतः) शिमी कर्मनाम—निघ० २ । १ । उत्तमकर्मयुक्तान्
(भामिनः) भाम—इनि । तेजस्विनः (दुर्हणायून्) हृणीयतेः क्रुध्यतिकर्मा—
निघ० २ । १२ । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-उण्, कण्ड्वादित्वाद् यक्, अतो
लोपे सति ईकारस्य आकारः । शत्रुषु महाक्रोधयुक्तान् (आसन्निषून्) पद्दन्नो-
मास्० । पा० ६।१।६३ । आसनशब्दस्य आसन् आदेशः । आसने लक्ष्ये प्राप्तवाणान्
(हृत्स्वसः) अस्यतेः—क्विप् । शत्रुहृदयेषु प्रक्षिप्तशस्त्रान् (मयोभून्) सुखं
भावुकान् वीरान् (यः) पुरुषः (एषाम्) वीराणाम् (भृत्याम्) पोषणरीतिम्
(ऋणधत्) ऋधु वृद्धौ-लेटि आडागमः । वर्धयेत् (सः) (जीवात्) लेटि आडागमः ।
चिरं जीवेत् । यशस्वी भवेत् ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है । परमात्मा धुरन्धर धर्मात्मा वीरों पर संसार की रक्षा का भार रखता है, और वे उस नियम का यथावत् पालन करते हैं । जो मनुष्य ऐसे मर्यादा पुरुषों की नीति पर चलता है, वह संसार में यशस्वी होकर अमर होता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, १ । ८४ । ६ । महर्षि दयानन्द ने सेनापति के योग्य कर्म में इसकी व्याख्या की है ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याहुः क ई ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आह्नो वीच्या नृन् ॥७॥
कः । अस्य । वेद । प्रथमस्य । अहः । कः । ईम् । ददर्श ।
कः । इह । प्र । वोचत् ॥ बृहत् । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम ।
कत् । ऊं इति । ब्रवः । आह्नः । वीच्या । नृन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन [पुरुष] (अस्य) इस [जगत्] के (प्रथमस्य) पहिले (अहः) दिन को (वेद) जानता है (कः) किस ने (ईम्) इस [दिन] को (ददर्श) देखा है, (कः) कौन (इह) इस [विषय] में (प्र वोचत्) बोले । (मित्रस्य) सर्व प्रेरक (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर का (बृहत्) बड़ा (धाम) धाम [धारण सामर्थ्य वा नियम] है, (आह्नः) हे चोट लगाने वाली ! (कत् उ) कैसे (वीच्या) छुल के साथ (नृन्) नरों [नेताओं] से (ब्रवः) तू बोल सके ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है । तू कहती है कि सूर्य और

७—(कः) प्रश्ने । कः पुरुषः (अस्य) जगतः (वेद) जानाति (प्रथमस्य) प्रथमम् (अहः) अहः । दिनम् (कः) (ईम्) इदं दिनम् (ददर्श) दृष्टवान् (कः) (इह) अस्मिन् विषये (प्र वोचत्) प्रकथयेत् (बृहत्) महत् (मित्रस्य) दु मिञ् प्रज्ञे पणे—क्त्र । सर्वप्रेरकस्य (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (धाम) धारणसामर्थ्यम् । प्रभावः (कत्) कथम् (उ) पादपूरणः (ब्रवः) ब्रूयाः । ब्रवीषि (आह्नः) आङ्+हन हिंसागत्योः—असुन् । हे आहननशीले । क्लेशकारिणि (वीच्या) व्यच व्याजीकरणे—किप्रत्ययः । छान्दसो दीर्घः । छलेन (नृन्) नयतेर्ङिच्च । उ०२ । १०० । लीञ् प्रापणे—ऋ, स च डित् । नेतृन् पुरुषान् ॥

पृथिवी प्राकृतिक पदार्थों में भी पति पत्नी भाव है, यह ठीक नहीं । परमेश्वर के नियम मनुष्य नहीं समझ सकता, जैसे सूर्य और पृथिवी में आकर्षण धारण आदि गुण हैं जिनके कारण उनके बीच बारंबार आपस में वृष्टि देने और लेने का सामर्थ्य है । तू हमें मत ठग ॥ ७ ॥

मन्त्र ७-१२ कुछ अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । ६-११ ॥

यमस्य॑ मा॒ यम्यं॑ १ काम॑ आगन्त॑स॒माने॑ योनौ॑ सह॑शेय्याय ।
जायेव॑ पत्ये॑ तन्व॑ रिरिच्य॑ वि चिद् वृहेव॑ रथ्यैव॑ चक्रा ॥८॥
यमस्य॑ । मा । यम्यम् । कामः । आ । अगन् । समाने ।
योनौ । सह-शेय्याय ॥ जाया-इव । पत्ये । तन्वम् । रिरि-
च्याम् । वि । चित् । वृहेव । रथ्या-इव । चक्रा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) यम [जोड़िया भाई] की (कामः) कामना (मा) मुझ (यम्यम्) यमी [जोड़िया बहिन] को, (समाने योनौ) एक घर में (सहशेय्याय) साथ साथ सोने के लिये, (आ अगन्) आकर प्राप्त हुयी है । (जाया इव) पत्नी के समान (पत्ये) पति के लिये (तन्वम्) [अपना] शरीर (रिरिच्याम्) मैं फैलाऊं, (चित्) और (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि विरहेव) हम दोनों मिलें ॥ ८ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है । तू और मैं दोनों एक माता से एक साथ

८—(यमस्य) यम परिदेषणे—अच् । एकगर्भजायमानस्य यमजस्य भ्रातुः (मा) माम् (यम्यम्) यम ङीष् गौरादित्वात्, यणादेशः । यमीम् । एक-गर्भजायमानां यमजां भगिनीम् (कामः) कामना (आ अगन्) आगमत् (समाने) एकस्मिन्नेव (योनौ) गृहे (सहशेय्याय) अचो यत् । पा० ३ । १ । ६७ । शीङ् शयने—यत् । शयं शयनं स्वार्थेयत् । सहशयनाय (जाया) पत्नी (इव) यथा (पत्ये) स्वभर्त्रे (तन्वम्) तनूम् । स्वशरीरम् (रिरिच्याम्) रिचिर् विरे-चने । विस्तारयेयम् (चित्) अपि च (वि वृहेव) परस्परसंश्लेषो विवर्हा । आवां संश्लेषं करवाव (रथ्या) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । पा० ४ । ४ । ७६ । इति यत् । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । रथ्ये । रथवाहके (इव) यथा (चक्रा) चक्रवत् ॥

जोड़िया उत्पन्न हुये हैं सो हम दोनों में अति प्रीति है । हम दोनों ही आपस में विवाह करके पति पत्नी बनें और मिलकर गृहस्थ आश्रम चलावे, जैसे रथ के दो पहिये धुरा के साथ आपस में मिलकर रथ चलाते हैं ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहना याहि तूयं तेन वि वृह रथ्यैव चक्रा ॥ ८ ॥
न । तिष्ठन्ति । न । नि । मिषन्ति । एते । देवानाम् । स्पशः ।
इह । ये । चरन्ति ॥ अन्येन । मत् । आहनः । याहि । तूयम् ।
तेन । वि । वृह । रथ्या-इव । चक्रा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के (एते) यह (स्पशः) नियम (न) न (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं और (न) न (नि मिषन्ति) मुँदते हैं, (ये) जो (इह) यहां पर (चरन्ति) चलते हैं । (आहनः) हे चोट लगाने वाली ! तू (मत्) मुझ से (अन्येन) दूसरे के साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) जा और (तेन) उसके साथ (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि वृह) संयोग कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है । बड़े लोगों की अटल मर्यादायें सब को मानने योग्य हैं, मैं बहिन के साथ विवाह नहीं कर सकता, तू दूसरे से विवाह करके गृहस्थिनी हो ॥ ८ ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिसीयात् ।
द्विवा पृथिव्या मिथुना सबन्धूयसीर्यमस्य विवृहादजामि१०(१)

६—(न) निषेधे (तिष्ठन्ति) गत्या निवर्तन्ते (न) (नि मिषन्ति) निमेषं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वन्ति (एते) (देवानाम्) विदुषाम् (स्पशः) स्पश ग्रन्थे बाधने च-क्विप् । प्रबन्धाः । नियमाः (इह) संसारे (ये) (चरन्ति) प्रवर्तन्ते (अन्येन) इतरेण सह (मत्) मत्तः (आहनः) म० ७ । हे आहनन-शीले (याहि) गच्छ (तूयम्) क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५ । शीघ्रम् (तेन) पुरुषेण सह (वि वृह) संश्लेषं कुरु (रथ्या) म० ८ । रथवाहके (इव) (चक्रा) चक्रा ॥

रात्रीभिः । अस्मै । अह-भिः । दशस्येत् । सूर्यस्य । चक्षुः ।
 मुहुः । उत् । मिमीयात् ॥ दिवा । पृथिव्या । मिथुना ।
 सबन्धु इति स-बन्धू । यमीः । यमस्य । विवृहात् ।
 अजामि ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(रात्रीभिः) रात्रियों के साथ और (अहभिः) दिनों के साथ (अस्मै) इस [भाई] को (सूर्यस्य) सूर्य की (चक्षुः) ज्योति (दशस्येत्) [सुमति] देवे और (मुहुः) बारम्बार (उत् मिमीयात्) फैली रहे । (दिवा) सूर्य के साथ और (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (मिथुना) जोड़ा जोड़ा(सम्बन्धू) भाई के साथ वाते हैं, [फिर] (यमीः) जोड़िया बहिन (यमस्य) जोड़िया भाई के (अजामि) बिना सम्बन्ध से (विवृहात्) उद्यम करे ॥ १० ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। हे भाई ! सूर्य के प्रकाश में आंख खोल कर देख कि राति और दिन बहिन भाई होकर पति पत्नी भाव से रहते हैं और सूर्य और पृथिवी के बीच सब पदार्थों में भी यही सम्बन्ध है, फिर मैं भी बहिन होकर अपने भाई से ही विवाह करूँ ॥ १० ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
 उप बर्बहि वृषभाय बाहुसुन्यमिच्छस्व सुभगे पति मत् ॥११॥
 आ । घु । ता । गच्छान् । उत्-तरा । युगानि । यत्र ।
 जामयः । कृणवन् । अजामि ॥ उप । बर्बहि । वृषभाय ।

१०—(रात्रीभिः) (अस्मै) यमाय (अहभिः) अहोभिः । दिनैः (दशस्येत्) दद्यात् सुमतिम् (सूर्यस्य) (चक्षुः) प्रकाशकं तेजः (मुहुः) बारम्बारम् (उन्मिमीयात्) माङ् माने, परस्मैपदं छान्दसम् । ऊर्ध्व मानं गमनं कुर्यात् (दिवा) सूर्येण सह (पृथिव्या) भूम्या सह (मिथुना) स्त्रीयुक्पयार्थुग्मे । द्वन्द्वे (सबन्धू) बन्धुना भ्रात्रा सहिते (यमीः) विषगर्शुछान्दसः —म० ८ । यमी । एकगर्भजायमाना यमजा भगिनी (यमस्य) म० ८ । एकगर्भजायमानस्य यमजस्य । भ्रातुः (वि वृहात्) वृह उद्यमने । विविधं यत्नं कुर्यात् (अजामि) अजामित्वेन । सम्बन्धराहित्येन ॥

बाहुम् । अन्यम् । इच्छुस्व । सु-भुगे । पतिम् । मत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ता) वे (उत्तरा) अगले (युगानि) युग [समय] (घ) निःसन्देह (आ गच्छान्) आवें, (यत्र) जिन में (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिर्ने] (अजामि) कुल स्त्रियों [वा बहिर्नों] के अयोग्य काम को (कृण्वन्) करने लगे । (वृषभाय) श्रेष्ठ वर के लिये (बाहुम्) [अपनी] भुजा (उप वर्द्धि) आगे बढ़ा, (सुभगे) हे सुभगे ! [बड़े ऐश्वर्य वाली (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे (पतिम्) पति को (इच्छुस्व) ढूँढ़ ॥ ११ ॥

भावार्थ—पुरुष का बचन है । चाहे कुल स्त्रियां धर्म छोड़ कर अधर्म करने लगे, मैं अधर्म न करूंगा, तू अपने लिये दूसरा पति बरके गृहस्थ आश्रम कर ॥ ११ ॥

किं भ्रातासुद् यदनाथं भवति किमु स्वसा यन्निवृत्तिर्नि-
गच्छात् । कामसूता बहु इतद् रूपासि तुन्वा मे तुन्वै सं
पिपृग्धि ॥ १२ ॥

किम् । भ्राता । सुत् । यत् । अनाथम् । भवति । किम् ।
ऊं इति । स्वसा । यत् । निः-वृत्तिः । नि-गच्छात् ॥ काम-
सूता । बहु । इतत् । रूपासि । तुन्वा । मे । तुन्वैम् । सम् ।
पिपृग्धि ॥ १२ ॥

११—(आ गच्छान्) आगच्छेयुः (घ) निश्चयेन (ता) तानि (उत्तरा)
आगामीनि (युगानि) समयविशेषाः (यत्र) येषु युगेषु (जामयः) कुल-
स्त्रियः । भगिन्यः (कृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्युः (अजामि)
कुलस्त्रीणां भगिनीनां वा अयोग्यं कर्म (उप) समीपे (वर्द्धि) बृह बृद्धौ
यङ्लुकि लोट् । भृशं वर्धय (वृषभाय) श्रेष्ठाय वराय (बाहुम्) स्वभुजम्
(अन्यम्) भिन्नपुरुषम् (इच्छुस्व) कामयस्व (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति
(पतिम्) भर्तारम् (मत्) मत्तः ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भाई (किम्) क्या (असत्) होवे, (यत्) जब [बहिन को] (अनाथम्) बिन सहारा (भवाति) होवे, (उ) और (स्वसा) बहिन (किम्) क्या है (यत्) जब [भाई पर] (निःश्रुतिः) महाविपत्ति (निगच्छात्) आपड़े । (काममूता) काम से बंधी हुई मैं (बहु) बहुत कुछ (एतत्) यह (रपामि) कहती हूं, (तन्वा) [अपने] शरीर से (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (सं पिपृग्धि) मिलकर लू ॥ १२ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है । वह भाई नहीं है जो बहिन की विपत्ति में सहाय न करे और न वह बहिन है जो भाई के कष्ट को न मिटावे । मैं काम से पीड़ित होकर तेरे साथ विवाह के लिये कहती हूं ॥ १२ ॥

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा ३ सं पपृच्याम् ।
अन्येन सत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥
न । ते । नाथम् । यमि । अत्र । अहम् । अस्मि । न । ते ।
तनूम् । तन्वा । सम् । पपृच्याम् ॥ अन्येन । सत् । प्र-मुदः ।
कल्पयस्व । न । ते । भ्राता । सु-भगे । वृष्टि । एतत् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] (अहम्) मैं (अत्र) इस [विषय] में (ते) तेरा । (नाथम्) आश्रय (न) नहीं (अस्मि) हूं, (ते) तेरे (तनूम्) शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्)

१२—(किम्) किमर्थम् । निष्फलम् (भ्राता) सहोदरः (असत्) भवेत् (यत्) यदि (अनाथम्) अनाथत्वम् । अनाश्रयत्वम् (भवाति) भवेत्, भगिन्याम् (किम्) निष्फलम् (उ) समुच्चये (स्वसा) भगिनी (यत्) यदि (निःश्रुतिः) कृच्छ्रापत्तिः (निगच्छात्) निपतेत् भ्रातरि (काममूता) मूङ् बन्धने—क्त । कामेन बद्धा पीडिता (बहु) नानाप्रकारेण (एतत्) इदं वचनम् (रपामि) कथयामि (तन्वा) स्वशरीरेण (मे) मम (सम्) संगत्य (पिपृग्धि) पृची सम्पर्के । छान्दसःश्लुः, अभ्यासस्य इत्वं । संपर्चय ॥

१३—(न) निषेधे (ते) तव (नाथम्) आश्रयः (यमि) म० ८ । हे यमजे भगिनि (अत्र) अस्मिन् विषये (अहम्) भ्राता (अस्मि) भवामि (न)

मिलकर (पपृच्याम्) छू ऊंगा । (मत्) मुझे से (अन्येन) दूसरे [वर] के साथ (प्रमदः) आनन्दों को (कल्पयस्व) मना, (सुभगे) हे सुभगे ! [बड़े ऐश्वर्य वाली] (ते भ्राता) तेरा भाई (एतत्) यह (न) नहीं (वष्टि) चाहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है । यह ठीक है कि हम दोनों भाई बहिन होकर विपत्ति में परस्पर सहाय करें, परन्तु धर्म छोड़कर बहिन से विवाह न करूंगा । मैं तुझ से कहता हूँ कि तू दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऋग्वेद में है—१० । १० । १२ ॥

न वा उ ते तनून् तन्वा इ सं पपृच्यां पापमाहुः स्वसारं निगच्छात् । असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥

न । वै । ऊं इति । ते । तनूम् । तन्वा । सम् । पपृच्याम् । पापम् । आहुः । यः । स्वसारम् । नि-गच्छात् ॥ असं-यत् । एतत् । मनसः । हृदः । मे । भ्राता । स्वसुः । शयने । यत् । शयीय ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वै उ) कभी भी (ते तनूम्) तेरे शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्) मिलकर (पपृच्याम्) छूऊंगा, [उस मनुष्य को] (पापम्) पापी (आहुः) वे [शिष्ट लोग] कहते हैं, (यः) जो (स्वसारम्) बहिन को (निगच्छात्) नीचपन से प्राप्त करे । (एतत्) यह

नहि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (अन्येन) भिन्नेन वरेण (मत्) मत्तः (प्रमुदः) प्रहर्षान् (कल्पयस्व) समर्थय । साधय (न) निषेधे (ते) तव (भ्राता) सहोदरः (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वष्टि) इच्छति (एतत्) इदं कर्म ॥

१४—(न) निषेधे (वै उ) कदापि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (पापम्) पापिनं तं पुरुषम् (आहुः) कथवन्ति शिष्टाः (यः) भ्राता (स्वसारम्) भगिनीम् (निगच्छात्) नीचं प्राप्नयात् (असंयत्) यमु उपरमे—किप । असंगतम्

[बात] (मे) मेरे (मनसः) मन [संकल्प] के और (हृदः) हृदय [निश्चय] के (असंयत्) असंगत है—(यत्) कि (भ्राता) मैं भाई (स्वसुः) बहिन की (शयने) सेज पर (शयीय) सोऊं ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है । मैं कभी भी तेरे साथ विवाह न करूंगा । बड़े लोग भाई के साथ बहिन का विवाह पाप मानते हैं और मैं भी अन्तःकरण से इसे पाप समझता हूँ ॥ १४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—१० । १० । १२ ॥

ब॒तो ब॑तासि य॒म् नै॒व ते॒ मनो॑ हृ॒दयं॑ चावि॒दाम् । अ॒न्या
कि॒न् त्वां क॒दयै॒व यु॒क्तं परि॑ ष्वजा॒तै लिबु॑जे॒व वृ॒क्षम् ॥ १५ ॥

ब॒तः । ब॒त् । अ॒सि॒ । य॒म् । न । ए॒व । ते॒ । मनः॑ । हृ॒दय॑म् ।
च॒ । अ॒वि॒दाम् ॥ अ॒न्या । कि॒न् । त्वा॒म् । क॒दया॑-इ॒व ।
यु॒क्तम् । परि॑ । स्॒वजा॒तै । लिबु॑जा-इ॒व । वृ॒क्षम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(बत) हा ! (यम) हे यम ! [जोड़िया भाई] तू (बतः) बड़ा निर्बल (असि) है, (ते) तेरे (मनः) मन [संकल्प] को (च) और (हृदयम्) हृदय [निश्चय] को (एव) निःसन्देह (न अविदाम) हम ने नहीं पाया । (अन्या) दूसरी स्त्री (किल) अवश्य (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) आलिङ्गन करेगी, (कदया इव) जैसे घोड़े की पेटी (युक्तम्) कसे

(एतत्) इदं कर्म (मनसः) चित्तस्य । संकल्पस्य (हृदः) हृदयस्य । निश्चयस्य (मे) मम (भ्राता) (स्वसुः) भगिन्याः (शयने) शय्यायाम् (यत्) अर्थबोधने (शयीय) अहं शयनं कुर्याम् ॥

१५—(बतः) वन उपकारे उपतापे च—क्त । बतो बलादतीतो भवति दुर्बलः—निरु० ६ । २८ । अतिनिर्बलः (बत) शोके । हा (असि) (यम) म० ८ । हे यमजभ्रातः (न) निषेधे (एव) निश्चयेन (ते) तव (मनः) चित्तम् संकल्पम् (हृदयम्) अन्तःकरणम् । निश्चयम् (च) (अविदाम) विदुः लाभे—लुङ् । वयं प्राप्तवत्यः (अन्या) मद्भिन्ना स्त्री (किल) प्रसिद्धौ (त्वाम्) (कदया) अश्वस्य कक्षप्रदेशस्था रज्जुः (इव) यथा (युक्तम्) गमनाय योजि-

हुये [घोड़े] से और (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से [लिपट जाती है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है । भाई ! मैं ने तुझे इतना समझाया पर तू ने मेरी बात न मानी, अवश्य मुझ से दूसरी स्त्री तेरे साथ विवाह कर के सुख भोगेगी ॥ १५ ॥

मन्त्र १५ और १६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । १३, १४ ॥

अन्यम् पु यस्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं
सुभद्राम् ॥ १६ ॥

अन्यम् । ऊं इति । सु । यमि । अन्यः । ऊं इति ।
त्वाम् । परि । स्वजातै । लिबुजा-इव । वृक्षम् ॥ तस्य ।
वा । त्वम् । मनः । इच्छ । सः । वा । तव । अध । कृणुष्व
सुम्-विदम् । सु-भद्राम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] तू (अन्यम्) दूसरे पुरुष से (सु उ) अच्छे प्रकार [मिल], (उ) और (अन्यः) दूसरा पुरुष (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) मिले, (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से । (वा) और (त्वम्) तू (तस्य) उसके (मनः) मन को (इच्छ) चाह, (वा) और (सः) वह (तव) तेरे [मन को चाहे], (अध) फिर तू (सुभद्राम्) बड़े मङ्गल युक्त (संविदम्) संगति (कृणुष्व) कर ॥ १६ ॥

भावार्थ—पुरुष का अन्तिम वचन है । हे बहिन ! तू प्रसन्न होकर दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले । तुम दोनों परस्पर प्रीति बढ़ाकर आनन्द भोगो ॥ १६ ॥

तमश्वम् (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६ । ८ । १ । लता (वृक्षम्) तरुम् ॥

१६—(अन्यम्) भिन्नपुरुषम्—परिष्वजेति शेषः (उ) एव (सु) सुष्ठु (यमि) म० ८ । हे यमजे भगिनि (अन्यः) इतरः पुरुषः (उ) (त्वाम्) (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६ । ८ । १ । लता (इव) यथा (वृक्षम्) (तस्य) वरस्य (वा) समुच्चये । च (त्वम्) (मनः) चितम् (इच्छ) कामयस्व (सः) वरः (वा) च (तव) (अध) अथ । अनन्तरम् (कृणुष्व) कुरु (संविदम्) संगतिम् (सुभद्राम्) अत्यन्तमङ्गलप्रदाम् ॥

मन्त्राः १७—२६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । ११ । १-६ यथा] ॥ १७ आर्षी त्रिष्टुप् ;

१८-२०, २२ निचृज्जगती ; २१, २३ जगती ; २४—२६ त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्मोपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् । आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन् आपि-
तानि ॥ १७ ॥

त्रीणि । छन्दांसि । कवयः । वि । येतिरे । पुरु-रूपम् ।
दर्शतम् । विश्व-चक्षणम् ॥ आपः । वाताः । ओषधयः ।
तानि । एकस्मिन् । भुवने । आपितानि ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कवयः) बुद्धिमानों ने (पुरुरूपम्) अनेक प्रकार निरूपण करने योग्य, (दर्शतम्) अद्भुत गुण वाले (विश्वचक्षणम्) सब के देखने योग्य, (त्रीणि) तीन (छन्दांसि) आनन्द देने वाले पदार्थों को (वि) विविध प्रकार (येतिरे) यत्न में किया है । वे (आपः) जल, (वाताः) पवन और (ओषधयः) ओषधे [सोमलता, जौ, चावल आदि] हैं, (तानि) वे सब (एकस्मिन्) एक (भुवने) भुवन [सब के आधार परमात्मा] में (आपितानि) ठहरे हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अनेक प्रकार उपकारी जल, वायु और ओषधियों आदि के गुणों को विद्वानों में उपदेश करके लाभ उठावे और उनके कर्ता परमात्मा की महिमा जानकर उन्नति करें ॥ १७ ॥

१७—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । चन्द्रे रादेश्च छः । उ० ४ । २१६ । चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः । आनन्दप्रद-पदार्थान् (कवयः) मेधाविनः (वि) विविधम् (येतिरे) यती प्रयत्ने—लिट् । यत्ने कृतवन्तः (पुरुरूपम्) बहुविधनिरूपणीयम् (दर्शतम्) दृशिर्—अतच् । दर्शनीयम् । अद्भुतगुणयुक्तम् (विश्वचक्षणम्) सर्वैर्दर्शनीयम् (आपः) जलानि (वाताः) वायवः (ओषधयः) सोमलताव्रीहियवादयः (तानि) वस्तूनि (एकस्मिन्) (भुवने) सर्वाधारे परमेश्वरे (आपितानि) समन्ताद् निवेशितानि ॥

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि य्हो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियां
ऋतून् ॥ १८ ॥

वृषा । वृष्णे । दुदुहे । दोहसा । दिवः । पयांसि । य्हः ।
अदितेः । अदाभ्यः ॥ विश्वम् । सः । वेद । वरुणः । यथा ।
धिया । सः । यज्ञियः । यजति । यज्ञियान् । ऋतून् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(य्हः) महान्, (अदाभ्यः) न दबने वाले (वृषा) बड़े
ऐश्वर्य वाले परमात्मा ने (वृष्णे) पराक्रमी मनुष्य के लिये (दिवः) आनन्द
देने वाली (अदितेः) अखण्ड वेदवाणी की (दोहसा) पूरणता से (पयांसि)
अनेक रसों को (दुदुहे) भरपूर किया है । (वरुणः यथा) श्रेष्ठ पुरुष के
समान (सः) वह [मनुष्य] (विश्वम्) संसार को (धिया) [अपनी] बुद्धि
से (वेद) जानता है और (सः) वह (यज्ञियः) पूजनीय होकर (यज्ञियान्)
पूजनीय (ऋतून्) ऋतुओं [उचित कालों] को (यजति) पूजता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेदद्वारा पुरुषार्थी के लिये संसार में अनेक
ऐश्वर्य का उपदेश किया है । वही ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठों के समान आचरण करके
उचित समय को न खोकर संसार का उपकार करता है ॥ १८ ॥

मन्त्र १८—२४ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ११ । १-७ ॥

रपेद् गन्धुर्वीरिप्या च योषणा नुदस्य नुदेपरि पातु नो मनः ।

१८—(वृषा) वृषु प्रजनने, परमशक्तौ पराक्रमे च—कनिन् । परमशक्तिमान्
परमेश्वरः । इन्द्रः (वृष्णे) पराक्रमिणे पुरुषाय (दुदुहे) प्रपूरितवान् (दोहसा)
दुह प्रपूरणे—असुन् । प्रपूर्या (दिवः) दिवु मोदे—डिवि । आनन्दप्रदायाः
(पयांसि) रसान् (य्हः) महान्—निघ० ३ । ३ । (अदितेः) अदितिर्वाङ्-
नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डिताया वेदवाण्याः (अदाभ्यः) अहिंस्यः
(विश्वम्) संसारम् (सः) पराक्रमी (वेद) वेत्ति (वरुणः) श्रेष्ठपुरुषः
(यथा) सादृश्ये (धिया) प्रज्ञया (सः) (यज्ञियः) पूजार्हः (यजति) पूजयति
(यज्ञियान्) पूजनीयान् (ऋतून्) अर्त्तेश्चतुः । उ० १ । ७२ । ऋ गतौ—तु, कित् ।
गमनशीलान् योग्यकालान् ॥

इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि
वोचति ॥ १८ ॥

रपत् । गन्धर्वीः । अप्या । च । योषणा । नदस्य । नादे ।
परि । पातु । नः । मनः ॥ इष्टस्य । मध्ये । अदितिः । नि ।
धातु । नः । भ्राता । नः । ज्येष्ठः । प्रथमः । वि । वोचति १८

भाषार्थ—(गन्धर्वीः) विद्वानों को धारण करने वाली, (अप्या)
सत्कर्मों में प्रसिद्ध (च) और (योषणा) सेवने योग्य [वेद धाणी] (रपत्)
स्पष्ट कहती है—कि वह [वेदवाणी] (नदस्य) स्तोता [गुणज्ञ] पुरुष के
(नादे) सत्कार में (नः) हमारे (मनः) मन [वा विज्ञान] की (परि) सब ओर
से (पातु) रक्षा करे । (अदितिः) अखण्ड वेदवाणी (इष्टस्य) अभीष्ट सुख के (मध्ये)
बीच में (नः) हमें (नि) नित्य (धातु) रक्खे, (भ्राता) भाई [के समान
हितकारी] (ज्येष्ठः) अतिश्रेष्ठ, (प्रथमः) मुख्य पुरुष (नः) हम को (वि)
अनेक प्रकार (वोचति) उपदेश करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—वेदवाणी हमें उपदेश करती है कि मनुष्य गुणों के जानने से
अपनी रक्षा करता और अभीष्ट सुख पाता है, श्रेष्ठ विद्वान् परस्पर यही उपदेश
करे ॥ १८ ॥

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवासु मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदधाय जीज-

१८—(रपत्) रपति । उपदिशति (गन्धर्वीः) गौः स्तोतृनाम—निघ०
३ । १६ । स्तोतृणां धारयित्री (अप्या) म० ४ । सत्कर्मसु भवा (च) (योषणा)
युष भजने—लघु, टाप् । सेवनीया (नदस्य) नदः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ ।
स्तोतुः । गुणज्ञस्य (नादे) नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । अर्चने । सत्कारे
(परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (मनः) विज्ञानम् । अन्तः—
करणम् (इष्टस्य) अभीष्टसुखस्य (मध्ये) (अदितिः) अखण्डिता वेद-
वाणी (नि) नित्यम् (धातु) दधातु (नः) अस्मान् (भ्राता) भ्रातेव हित-
कारी (नः) अस्माकम् (ज्येष्ठः) प्रशस्यतमः (प्रथमः) मुख्यः पुरुषः (वि)
विविधम् (वोचति) वक्तु । उपदिशतु ॥

नन् ॥ २० ॥ (२)

सो इति । चित् । नु । भद्रा । सु-मती । यशस्वती । उषाः ।
उवास । मनवे । स्वः-वती ॥ यत् । ईम् । उशन्तम् । उश-
ताम् । अनु । क्रतुम् । अग्निम् । होतारम् । विदथाय । जीज-
नन् ॥ २० ॥ (२ ॥

भाषार्थ—(सो) वही (चित्) निश्चय करके (नु) अब (भद्रा)
कल्याणी, (सुमती) अन्न वाली, (यशस्वती) यश वाली, (स्वर्वती) बड़े सुख
वाली [वेदवाणी], (उषाः) उषा [प्रभात वेला के समान], (मनवे) मनुष्य
के लिये (उवास) प्रकाशमान हुयी है । (यत्) क्योंकि (ईम्) इस [वेदवाणी]
को (उशन्तम्) चाहने वाले, (होतारम्) दानी (अग्निम्) विद्वान् पुरुष को
(उशताम्) अभिलाषी पुरुषों की (क्रतुम् अनु) बुद्धि के साथ (विदथाय)
ज्ञानसमाज के लिये (जीजनन्) उन्होंने [विद्वानों ने] उत्पन्न किया है ॥२०॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिये वेदवाणी को सूर्य
के प्रकाश के समान संसार में प्रकट किया है । जो मनुष्य वेदज्ञाता महाविद्वान्
होवे, विद्वान् लोग उसको मुखिया बनाकर समाज का सुख बढ़ावें ॥ २० ॥

अधु त्वं द्रुप्सं विभ्वं विचक्षुणं विराभंरदिषिरः श्येनो अध्वरे ।
यदी विशो वृणते दुस्ममार्था अग्निं होतारमधु धीरजायत २१
अध । त्वम् । द्रुप्सम् । वि-भ्वम् । वि-चक्षुणम् । विः । आ ।

२०—(सो) सा—उ । सैव वेदवाणी (चित्) एव (नु) सम्प्रति
(भद्रा) कल्याणी (सुमती) अन्नवती—निघ० २ । ७ (यशस्वती) कार्त्तिमती
(उषाः) प्रभातवेलारूपा वेदवाणी (उवास) वस—लिट् । प्रकाशं कृतवती
(मनवे) (मनुष्याय (स्वर्वती) सुखवती (यत्) यतः (ईम्) इमां वेदाणीम्
(उशन्तम्) कामयमानम् (उशताम्) कामयमानानाम् । अभिलाषिणाम् (अनु)
अनुसृत्य (क्रतुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ६ (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्)
दातारम् (विदथाय) ज्ञानसमाजाय (जीजनन्) अजीजनन् । उदपादयन् ते
विद्वांसः ॥

अभरत् । इषिरः । श्येनः । अध्वरे ॥ यदि । विशः । वृणते ।
दस्मम् । आर्याः । अग्निम् । होतारम् । अध । धीः । अजा-
यत ॥ २१ ॥

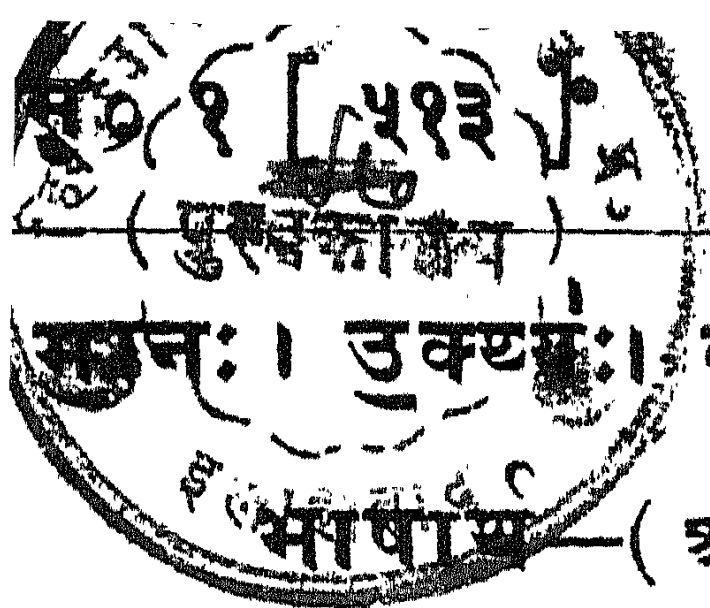
भाषार्थ—(अध) और (त्यम्) उस (द्रप्सम्) हर्ष देने वाले,
(विश्वम्) बली (विचक्षणम्) चतुर [विद्वान्] पुरुष को (श्येनः) श्येन
[वाज] (विः) पक्षी [के समान] (इषिरः) फुरतीला [आचार्य आदि]
(अध्वरे) यज्ञ में (आ अभरत्) लाया है । (यदि) यदि (आर्याः) आर्य
[श्रेष्ठ] (विशः) मनुष्य (दस्मम्) दर्शनीय, (होतारम्) दानी (अग्निम्)
विद्वान् पुरुष को (वृणते) चुने, (अध) तब (धीः) वह कर्म (अजायत)
हो जावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस विद्वान् दूरदर्शी जन को उत्तम गुणों के कारण विद्वान्
आचार्य आदि प्रसिद्ध करें उसको श्रेष्ठ लोग प्रधान बनाकर कार्य सिद्ध करें ॥ २१ ॥

सदासि रुणवो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः ।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो ३ वाजं ससुवाँ उपयासि
भूरिभिः ॥ २२ ॥

सदा । असि । रुणवः । यवसा-इव । पुष्यते । होत्राभिः ।
अग्ने । मनुषः । सु-अध्वरः ॥ विप्रस्य । वा । यत् । शुश-

२१—(अध) अथ (त्यम्) तम् (द्रप्सम्) वृत्तवदिवचि० । उ० ३ । ६२ ।
इप हर्षमोहनयोः—सप्रत्ययः । हर्षकारिणम् (विश्वम्) विभुम् । प्रभुम् । (विच-
क्षणम्) दूरदर्शिनम् । चतुरम् (विः) वातेर्दिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिग-
न्धनयोः—इण, डित् । पक्षी (आ अभरत्) हस्य भः । आहरत् । आहृतवान् (इषिरः)
इषिमदिमुदि० । उ० ५ । ५१ । इष गतौ—किरच् । शीघ्रगामी (श्येनः) श्येन
इव (अध्वरे) यज्ञे (यदि) (विशः) मनुष्याः—निघ० २ । ३ (वृणते) चरणं
कुर्वन्ति । पुरस्कुर्वन्ति (दस्मम्) दर्शनीयम् (आर्याः) अष्ट गतिप्रापणयोः—एयत् ।
श्रेष्ठाः (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्) दातारम् (अध) अनन्तरम् (धीः)
कर्म—निघ० २ । १ (अजायत) जायते ॥



मनः । उक्थ्यः । वाजम् । सुसु-वान् । उप-यासि । भूरि-भिः २२
 भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (स्वध्वरः) सुन्दर यज्ञ वाला होकर
 (मनुषः) ज्ञान की (होत्राभिः) वाणियों से (पुष्यते) पुष्ट करने वाले
 [मनुष्य] के लिये (यवसा इव) जैसे घास [गौ आदिके लिये] (सदा)
 सदा तू (रणवः) रमणीय [सुखदायक] (असि) होता है । (वा) और
 (यत्) क्योंकि (विप्रस्य) विद्वान् [आचार्य आदि] के (वाजम्) विज्ञान को
 (ससवान्) सेवन कर चुका हुआ, (शशमानः) फुरतीला, (भूरिभिः) बहुत
 [उत्तम पुरुषों] से (उक्थ्यः) स्तुतियोग्य तू (उपयासि) आता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—विद्वान् को योग्य है कि ज्ञानदाता आचार्य आदि को अपने
 सत्कर्मों से सदा प्रसन्न रखे, क्योंकि उन्हीं महात्माओं की कृपा से वह विज्ञान
 प्राप्त करके संसार में विख्यात हुआ है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरां जार आ भगुमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
 विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मुखस्तविष्यते असुरो वेपते मुती २३
 उत् । ईरय । पितरां । जारः । आ । भगम् । इयक्षति ।
 हर्यतः । हृत्तः । इष्यति ॥ विवक्ति । वह्निः । सु-अपस्यते ।
 मुखः । तविष्यते । असुरः । वेपते । मुती ॥ २३ ॥

२२—(सदा) सर्वदा (असि) भवसि (रणवः) कृगुशृङ्गभ्यो वः । उ
 १ । १५५ । रमु क्रीडायाम्—व, मस्य णः । रमणीयः । सुखप्रदः यद्वा,
 रण शब्दे गतौ च-वप्रत्ययः । स्तुत्यः । प्राप्तव्यः (यवसा) विभक्तेराकारः ।
 यवसम् । घासः । तृणम् (इव) यथा (पुष्यते) पुष पुष्टौ-शतृ । पोषणं
 कुर्वते पुरुषाय (होत्राभिः) वाग्भिः—निघ० १ । ११ (अग्ने) हे विद्वन् (मनुषः)
 जनेरुसिः उ० २ । ११५ । मन ज्ञाने—उसि । ज्ञानस्य (स्वध्वरः) शोभनयागः
 (विप्रस्य) मेधाविनः (वा) च (यत्) यतः (शशमानः) अ० २ । ३४ । २ ।
 शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलः ॥ शीघ्रगामी (उक्थ्यः) स्तुत्यः
 (वाजम्) विज्ञानम् (ससवान्) वण संभक्तौ—कसु । संभजमानः । सेवमानः
 (उपयासि) आगच्छसि (भूरिभिः) बहुपुरुषैः ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (जारः आ) स्तोता [गुणज्ञ पुरुष] के समान (पितरा) माता पिता को (भगम्) ऐश्वर्य की ओर (उत् ईरय) ऊंचा पहुँचा, [क्योंकि] (हर्यतः) [शुभगुणों का] चाहने वाला (हृत्तः) हृदय से (इयत्तति) [उन्हें] पूजना चाहता है और (इष्यति) चलता है । (वह्निः) भार उठाने वाला (विवक्ति) बोलता है, (मखः) उद्यागी (स्वपस्यते) सत्कर्म करना चाहता है और (असुरः) प्राणवान् [बलवान्] (तविष्यते) महान् होना चाहता है, और (मती) बुद्धि के साथ (वेपते) चेष्टा करता है ॥ २३॥

भावार्थ—विद्वान् कृतज्ञ पुरुष धन आदि से माता पिता की सेवा करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा से मनुष्य पुरुषार्थी होकर जगत् में बड़ा होता है ॥ २३ ॥
यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसःसूनो अति स प्र शृणवे ।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् २४
यः । ते । अग्ने । सु-मतिम् । मर्तः । अख्यत् । सहसः । सूनो
इति । अति । सः । प्र । शृणवे ॥ इषम् । दधानः । वहमानः ।
अश्वैः । आ । सः । द्यु-मान् । अम-वान् । भूषति । द्यून् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते) तेरी

२३—(उदीरय) द्विकर्मकः । उद्गमय । उच्चैः प्रापय (पितरा) माता-पितरौ (जारः) जरतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । जृ स्तुतौ-घञ् । स्तोता । गुणज्ञः (आ) सादृश्ये । इव (भगम्) ऐश्वर्य प्रति (इयत्तति) यजेः सन्, अभ्यासस्य संप्रसाणं छान्दसम् । यष्टुं पूजयितु-मिच्छति (हर्यतः) कमनीयः पुरुषः (हृत्तः) हृदयात् (इष्यति) इष गतौ । गच्छति (विवक्ति) कथयति (वह्निः) भारस्य बोढा (स्वपस्यते) अपः कर्म-नाम—निघ० २ । १ । सुप. आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १।८ । सु + अपस्—क्यच् । सत्कर्म कर्तुमिच्छति (मखः) मख सर्पणे, गतौ—घप्रत्ययः । उद्यागी पुरुषः (तविष्यते) तविषो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । तविष—क्यच् । अकारलोप-श्छान्दसः । तविषयते । महान् भवितुमिच्छति (असुरः) प्राणवान् । बलवान् (वेपते) चेष्टते (मती) मत्या ॥

२४—(यः) (ते) तव (अग्ने) हे विद्वान् (सुमतिम्) उत्तमबुद्धिम्

(सुमतिम्) सुमति को (अख्यत्) बखानता है, (सहसः सूने) हे बलवान् पुरुष के पुत्र ! (सः) वह (अति) अति (प्र) बड़ाई से (शृणवे) सुना जाता है [यशस्वी होता है] । और (सः) वह (इषम्) अन्न (दधानः) रखता हुआ, (अश्वैः) घोड़ों से (वहमानः) ले जाता हुआ, (द्युमान्) प्रकाशमान और (अमवान्) पराक्रमी होकर (द्यून्) दिनों को (आ) सब प्रकार (भूषति) सुधारता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुलीन बली विद्वानों की सुमति पर चलता है, वह यशस्वी, धनी और पराक्रमी होकर संसार का उपकार करता है ॥ २४ ॥

श्रुधी नो अग्ने सदने सुधस्थे युक्त्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः २५
श्रुधि । नः । अग्ने । सदने । सुध-स्थे । युक्त्व । रथम् । अमृ-
तस्य । द्रवित्नुम् ॥ आ । नः । वह । रोदसी इति । देवपुत्रे
इति देव-पुत्रे । माकिः । देवानाम् । अप । भूः । इह । स्याः २५

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (सधस्थे) मिलकर बैठने योग्य (सदने) बैठक [समाज] में (नः) हमारी [बात] (श्रुधि) सुन,—(अमृतस्य) अमृत [अमरण, पुरुषार्थ] के (द्रवित्नुम्) वेग वाले (रथम्) रथ को (युक्त्व) जोड़ । (नः) हमारे लिये (रोदसी) भूमि और सूर्य [के समान

(मर्तः) मनुष्यः (अख्यत्) लडर्थे लुङ् । कथयति (सहसः) बलवतः पुरुषस्य (सूने) पुत्र (अति) अत्यन्तम् (सः) (प्र) प्रकर्षेण (शृणवे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः, यणादेशः । शृणुते । श्रूयते । विश्रुतो भवति (इषम्) अन्नम् (दधानः) धारयन् (वहमानः) उद्यमानः (अश्वैः) तुरङ्गैः (आ) समन्तात् (सः) मर्तः (द्युमान्) दीप्तिमान् (अमवान्) बलवान् (भूषति) अलंकरोति (द्यून्) दिनानि—निघ० १ । ४ ॥

२५—(श्रुधि) शृणु (नः) अस्माकं वचः (अग्ने) हे विद्वन् (सदने) समाजे (सधस्थे) सहस्थितियोग्ये (रथम्) (अमृतस्य) अमरणस्य । (द्रवित्नुम्) स्तनिहृषियुषिगदिमदिभ्यो ऐरित्नुच् । उ० ३ । २६ । इ गतौ—इत्नुच्, अण्यन्तादपि । शीघ्रगामिनम् (आवह) आनय (नः) अस्मान् (रोदसी)

उपकारी] (देवपुत्रे) विद्वानों को पुत्र रखने वाले [दो प्रजायें अर्थात् माता पिता] को (आ वह) ला, (देवानाम्) विद्वानों के बीच (माकिः) न कभी (अप भूः) तू दूर हो, (इह) यहां [हम में] (स्याः) रह ॥ २५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभा के बीच अधिक विद्वान् पुरुष को प्रधान बनाकर व्यवस्था करें कि सब माता पिता विज्ञान पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करके संसार का उपकार करें और विद्वानों से आदर पूर्वक मिलते रहें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ६ ॥

यद॑ग ए॒षा स॑मि॒तिर्भ॑वा॒ति दे॒वी दे॒वेषु॑ यजु॒ता य॑ज॒त्र । रत्ना॑ च
यद् वि॒भजा॑सि स्वधा॒वो भा॑गं ने॒ा अ॒त्र वसु॑मन्तं वी॒तात् ॥ २६ ॥
यत् । अ॒ग्ने । ए॒षा । स॒म्-इ॒तिः । भ॒वा॒ति । दे॒वी । दे॒वेषु॑ ।
य॒ज॒ता । य॒ज॒त्र ॥ रत्ना॑ । च । यत् । वि॒-भ॒जा॑सि । स्व॒धा-वः॑ ।
भा॒गम् । नः॑ । अ॒त्र । वसु॑-मन्तम् । वी॒तात् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यजत्र) हे संगति योग्य ! (अग्ने) हे विद्वान् ! (यत्) जब (एषा) यह (समितिः) समिति [सभा] (देवेषु) विद्वानों के बीच (देवी) विज्ञानवती और (यजता) संगति योग्य (भवाति) होवे । (च) और (यत्) जब, (स्वधावः) हे आत्मधारी ! तू (रत्ना) रत्नों को (विभजासि) बांटे, (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां [संसार में] (वसुमन्तम्) बहुत धन युक्त (भागम्) भाग (वीतात्) भेज ॥ २६ ॥

भूमिसूर्यतुल्योपकारशीले (देवपुत्रे) देवा विद्वांसः पुत्रा ययोस्ते द्वे प्रजे । मातापितरौ (माकिः) न कदापि (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अप भूः) अपगतो भव (इह) अस्मासु (स्याः) भवेः ॥

२६—(यत्) यदा (एषा) (समितिः) सभा (भवाति) भूयात् (देवी) विज्ञानवती (देवेषु) विद्वत्सु (यजता) संगन्तव्या (यजत्र) हे संगन्तव्य (रत्ना) रत्नानि । बहुमूल्यधनानि (च) (यत्) यदा (विभजासि) विभागेन दद्याः (स्वधावः) मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । मत्वन्तस्य रुः । हे स्वधारणशक्तियुक्त (भागम्) अंशम् (नः) अस्माकम् (अत्र) संसारे (वसुमन्तम्) बहुधनयुक्तम् (वीतात्) वी असने क्षेपणे । प्रेरय ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से सार्वभौम विद्यासभा बनाकर विज्ञान का प्रचार करें जिससे लोग गुणी होकर धनी हों ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ८ ॥

मन्त्राः २७—३६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । १२ । १-६ यथा] ॥ २७—२८, ३१, ३३ त्रिष्टुप् ; ३०, ३२, ३५, ३६ निचृत् त्रिष्टुप् ; ३४ विराट् त्रिष्टुप् ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः । अनु सूर्य
उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥

अनु । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि ।
प्रथमः । जात-वेदाः ॥ अनु । सूर्यः । उषसः । अनु । रश्मीन् ।
अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सबको चलाने वाले परमेश्वर] ने (उषसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावा-पृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आविवेश) प्रवेश किया है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रचकर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्यों का उपास्य है ॥ २७ ॥

मन्त्र २७, २८ आ चुके हैं—अ० ७ । ८२ । ४, ५ ॥

मन्त्र २७ का प्रथम पाद ऋग्वेद में है—४ । १३ । १ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः । प्रति

सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥२८॥
 प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि ।
 प्रथमः । जात-वेदाः ॥ प्रति । सूर्यस्य । पुरु-धा । च । रश्मी-
 न् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥२८॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचार कर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ २८ ॥

द्यावा हु क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्चावे भवतः सत्यवाचा ।
 देवो यन्मर्तान् यजथाय कृणवन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं
 यन् ॥ २९ ॥

द्यावा । हु । क्षामा । प्रथमे इति । ऋतेन । अभि-श्चावे ।
 भवतः । सत्य-वाचा ॥ देवः । यत् । मर्तान् । यजथाय । कृणवन् ।
 सीदत् । होता । प्रत्यङ् । स्वम् । असुम् । यन् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(द्यावा क्षामा) सूर्य और पृथिवी [के समान उपकारी], (प्रथमे) मुख्य, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाली [दो प्रजायें स्त्री और पुरुष] (हु) निश्चय करके (ऋतेन) सत्य धर्म से (अभिश्चावे) पूरी कीर्ति के बीच

२९—(द्यावा) द्यौः । सूर्यः (हु) प्रसिद्धौ (क्षामा) पृथिवी—निघ० १ ।
 १ (प्रथमे) मुख्ये (ऋतेन) सत्यधर्मेण (अभिश्चावे) श्रु श्रवणे—घञ् । सत्य-
 यशसि (भवतः) वर्तते (सत्यवाचा) सत्यवाचौ । सत्यवादिन्यौ स्त्रीपुरुष-

(भवतः) होते हैं । (यत्) क्योंकि (होता) दानी, (देवः) प्रकाशमान [परमेश्वर] (मर्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) परस्पर मिलने के लिये (कृण्वन्) बनाता हुआ और (स्वम्) अपनी (असुम्) बुद्धि को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है ॥ २६ ॥

भाषार्थ—सब में मुख्य सर्वोपकारी स्त्री पुरुष ही कीर्ति पाते हैं, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा मनुष्यों को परस्पर सहायक बनाकर कर्मों का फल देने के लिये अपने ज्ञान से सब के सन्मुख रहता है ॥ २६ ॥

मन्त्र २६, ३० ऋग्वेद में हैं १० । १२ । १, २ ॥

देवो देवान् परिभूक्तेन वहां नो हव्यं प्रथुमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाक्जीको मुन्द्रो होता नित्यो वाचा
यजीयान् ॥ ३० ॥ (३)

देवः । देवान् । परि-भूः । ऋतेन । वह । नः । हव्यम् ।
प्रथुमः । चिकित्वान् ॥ धूम-केतुः । सुम्-इधा । भाः-क्जीकः ।
मुन्द्रः । होता । नित्यः । वाचा । यजीयान् ॥ ३० ॥ (३)

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (देवः) प्रकाशमान, (ऋतेन) सत्य धर्म से (देवान्) गतिमान् लोकों में (परिभूः) व्यापता हुआ, (प्रथमः) पहिले से वर्तमान (चिकित्वान्) [सब] जानता हुआ तू (नः) हमारे लिये (हव्यम्) ग्राह्य पदार्थ (वह) पहुंचा । (समिधा) समिधा [काष्ठ

रूपे प्रजे (देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (यत्) यतः (मर्तान्) मनुष्यान् (यजथाय) संगतिकरणाय (कृण्वन्) कुर्वन् (सीदत्) निषीदति (होता) दानी (प्रत्यङ्) अभिमुखः सन् (स्वम्) स्वकीयम् (असुम्) प्रज्ञाम्-निघ० ३ । ६ (यन्) गच्छन् । प्राप्नुवन् ॥

३०--(देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (देवान्) गतिमतो लोकान् (परिभूः) परिभवन् । सर्वतो व्याप्नुवन् (ऋतेन) सत्यधर्मेण (वह) आनय (नः) अस्मान् (हव्यम्) ग्राह्यं पदार्थम् (प्रथमः) आदिमः (चिकित्वान्) सर्वं जानन् (धूमकेतुः) धूमेन जायमानः । धूमध्वजोऽग्निः (समिधा) समिन्धनेन ।

आदि] से (धूमकेतुः) धुर्ये के झंडे वाले [अग्निरूप] तू (भास्वजीकः) बड़े प्रकाश वाला, (मन्द्रः) आनन्द दाता, (होता) दानकर्ता (नित्यः) सदा वर्तमान और (वाचा) वाणी द्वारा (यजीयान्) अति संयोग करने वाला है ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि अनन्त सर्वस्रष्टा परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता और सर्वज्ञ जान कर पुरुषार्थ के साथ ग्राह्य पदार्थों का उपार्जन करे ॥ ३० ॥

अर्चामि वां वध्र्यापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अन्नं पितरा
शिशीताम् ॥ ३१ ॥

अर्चामि । वाम् । वध्र्याय । अपः । घृतस्नू इति घृत-स्नू ।
द्यावाभूमी इति । शृणुतम् । रोदसी इति । मे ॥ अहा ।
यत् । देवाः । असु-नीतिम् । आयन् । मध्वा । नः । अन्नं ।
पितरा । शिशीताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(घृतस्नू) हे जल समान [व्यवहार को] शुद्ध करने वाले !
[दोनों माता पिता] (वध्र्याय) [अपने] बढ़ने के लिये (वाम्) तुम दोनों के
(अपः) कर्म की (अर्चामि) मैं पूजा करता हूँ, (रोदसी) हे व्यवहार की
रक्षक ! [दो प्रजाओं] तुम (द्यावाभूमी) सूर्य और भूमि [के समान उप-

सन्दीपनसाधनेन काष्ठादिना (भास्वजीकः) ऋजेश्च । उ० ४ । २२ । भास् +
ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु—ईकन्, कित् । भास्वजीकः प्रसिद्धभाः—निरु०
६ । ४ । बहुप्रकाशयुक्तः (मन्द्रः) मोदयिता । आनन्दयिता (होता) दाता
(नित्यः) सदा वर्तमानः (वाचा) वाण्या (यजीयान्) यषट्—ईयसुन् । तुरि-
ष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः । अत्यन्तं संयोजकः ॥

३१—(अर्चामि) पूजयामि । सत्करोमि (वाम्) युवयोः (वध्र्याय)
बुधेर्यम् । बुद्धये (अपः) कर्म (घृतस्नू) णा शौचे—डु । हे उदकमिव व्यवहार-
शोधयिष्यौ (द्यावाभूमी) सूर्यभूलोकसमानोपकारिण्यौ (शृणुतम्) (रोदसी)
बुधेरसुन् । धस्य दः, ङीप्, पूर्वसवर्णदीर्घः । रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ

कारी होकर] (मे) मेरी (शृणुतम्) सुनो । (यत्) क्योंकि (अहा) दिन और (देवाः) गतिमान् लोक (असुनीतिम्) प्राणदाता [परमात्मा] को (आयन्) प्राप्त होते हैं, (अत्र) यहां [संसार में] (नः) हमें (पितरा) माता पिता [आप दोनों] (मध्वा) ज्ञान से (शिशीताम्) तीक्ष्ण करें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो माता पिता आदि पूजनीय विद्वानों के कर्मों से और संसार के विविध पदार्थों से परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही महाज्ञानी होते हैं ॥ ३१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १२ । ४ ॥

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥३२॥
स्वावृक् । देवस्य । अमृतम् । यदि । गोः । अतः । जातासः ।
धारयन्ते । उर्वी इति ॥ विश्वे । देवाः । अनु । तत् । ते ।
यजुः । गः । गुहे । यत् । एनी । दिव्यम् । घृतम् । वाः ॥३२॥

भाषार्थ—(यदि) जब कि (देवस्य) प्रकाशमय परमेश्वर का (अमृतम्) अमृत [जीवन सामर्थ्य] (गोः) पृथिवी के लिये (स्वावृक्) सहज में पाने योग्य है, (अतः) इसी [जीवन सामर्थ्य] से (जातासः) उत्पन्न हुये प्राणी (उर्वी) पृथिवी पर (धारयन्ते) [अपने को] रखते हैं । हे परमात्मन् ! (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु)

विरोधनात्—निरु० ६ । १ । हे व्यवहारस्याधरोधयिज्यौ रक्षिज्यौ प्रजे (मे) मम वचः (अहा) दिनानि (यत्) यतः (देवाः) गतिमन्तो लोकाः (असुनीतिम्) प्राणप्रापकं परमात्मनम् (आयन्) लडर्थे—लड् । यन्ति । प्राप्नुवन्ति (मध्वा) मधुना । ज्ञानेन (नः) अस्मान् (अत्र) संसारे (पितरा) मातापितरौ (शिशीताम्) शो तनूकरणे लोटि छान्दसरूपम् । तीक्ष्णीकुरुतां भवत्यौ ॥

३२—(स्वावृक्) सु + आङ् + वृजी वर्जने—क्विप् । सुष्ठु सहजेन आवर्जनीयमाहरणीयं ग्राह्यम् (देवस्य) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (अमृतम्) अमरणम् । जीवनसामर्थ्यम् (यदि) यदा (गोः) चतुर्थ्यां षष्ठी । गवे । भूमये (अतः) अस्माद् अमृतात् (जातासः) उत्पन्नाः प्राणिनः (धारयन्ते) आत्मानं धारयन्ति (उर्वी) सप्तम्यां पूर्वसवर्णदीर्घः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १६ ।

पूजनीय कर्म के पीछे (गुः) चलते हैं, (यत्) क्योंकि (एनी) चलने वाली भूमि (दिव्यम्) श्रेष्ठ (घृतम्) सार युक्त (वाः) वरणीय उत्तम पदार्थ (दुहे) भरपूर करती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्राणियों के पालन के लिये पृथिवी पर प्रकाश, वायु, जल, अन्न आदि अनेक पदार्थ स्वयं पाने योग्य बनाये हैं, सब विद्वान् लोग परमेश्वर के नियमों को समझ कर संसार में अनेक लाभ उठाते हैं ॥ ३२ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १२ । ३ ॥

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवांस्लोको न यातामपि वाजो
अस्ति ॥ ३३ ॥

किम् । स्वित् । नः । राजा । जगृहे । कत् । अस्य । अति ।
व्रतम् । चकृम् । कः । वि । वेद ॥ मित्रः । चित् । हि ।
स्म । जुहुराणः । देवान् । श्लोकः । न । याताम् । अपि ।
वाजः । अस्ति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(किं स्वित्) क्यों [किस कर्म फल से] (नः) हमें (राजा) राजा [परमेश्वर] ने (जगृहे) ग्रहण किया है [सुख दिया है], (कत्) कब (अस्य) इस [परमात्मा] के (व्रतम्) नियम को (अति चकृम्) हम ने

इति प्रगृह्यम् । उर्व्याम् । पृथिव्याम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अनु) अनुसृत्य (तत्) (ते) तव (यजुः) अर्त्तित्तपूवपियजि० । उ० २ । ११७ । यज पूजायाम्—उसि, नित् । पूजनीयं कर्म (गुः) गच्छन्ति (दुहे) तलोपः । दुग्धे । प्रपूरयति (यत्) यतः (एनी) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इण् गतौ- नि । एन्यो नद्यः—निघ० १ । १३ । गमनशीला पृथिवी (दिव्यम्) श्रेष्ठम् (घृतम्) सारयुक्तम् (वाः) वारयतेः क्तिप् । वरणीयं द्रव्यम् ॥

३३—(किं स्वित्) कस्मात् कर्मफलात् (नः) अस्मान् (राजा) परमेश्वरः (जगृहे) जग्राह । गृहीतवान् (कत्) कदा (अस्य) परमेश्वरस्य (व्रतम्) नियमम् (अति चकृम्) वयमतिक्रान्तवन्तः (कः) प्रजापतिः परमेश्वरः (वि)

ललङ्घन किया है [जिस से क्लेश पाया है], (कः) प्रजापति परमेश्वर [इस
को] (वि) विविध प्रकार (वेद) जानता है । (हि) क्योंकि (मित्रः) सब
का मित्र [परमात्मा] (चित्) ही (स्म) अवश्य (देवान्) उन्मत्तों को
जुहुराणः) मरोड़ देने वाला और (याताम्) गतिशीलों [पुरुषार्थियों] का
अपि) ही (श्लोकः न) स्तुति के समान (वाजः) बल (अस्ति) है ॥३३॥

भावार्थ—पूर्वजन्म के फल की व्यवस्था को, जो हमारे अकस्मात् सुख
दुःख का कारण है, परमेश्वर जानता है, परन्तु वह अपनी न्याय व्यवस्था से
उन्मत्त आलसियों को कष्ट और उद्योगियों को सुख देता है ॥ ८ ॥

मन्त्र ३३—३६ ऋग्वेद में हैं—१० । १२ । ५—३८ ॥

दुर्मन्त्वन्नामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवति ।

यमस्य यो मुनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यम्युच्छन् ॥ ३४ ॥

दुः-मन्तु । अत्र । अमृतस्य । नाम । स-लक्ष्मा । यत् । विषु-
रूपा । भवति ॥ यमस्य । यः । मुनवते । सु-मन्तु । अग्ने ।

तम् । ऋष्व । पाहि । अम्य-युच्छन् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां [संसार में] (अमृतस्य) अमर [अविनाशी
परमात्मा] का (नाम) नाम (दुर्मन्तु) दुर्माननीय [सर्वथा अपूजनीय]
[होवे], (यत्) यदि (सलक्ष्मा) एकसे लक्षण वाली [धर्मव्यवस्था]
(विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल, अधार्मिक] (भवति) हो जावे ।

विविधम् (वेद) वेत्ति (मित्रः) सर्वसुहृत् (चित्) एव (हि) यस्मात् कार-
णात् (स्म) अवश्यम् (जुहुराणः) हवृ कौटिल्ये—कानच् । कुटिलीकुर्वाणः
(देवान्) दिवु मदे—पचाद्यच् । उन्मत्तान् । अलसान् (श्लोकः) स्तुतिः (न)
यथा (याताम्) या गतौ—शतृ । गच्छताम् (अपि) एव (वाजः) बलम्
(अस्ति) भवति ॥

३४—(दुर्मन्तु) कमिम निजनि० । उ० १ । ७३ । मन पूजायाम्-तु
दुर्माननीयम् । न कदापिसत्करणीयम् (अत्र) संसारे (अमृतस्य) अविनाशिनः
परमेश्वरस्य (नाम) नामधेयम् (सलक्ष्मा) समानलक्षणा धर्मव्यवस्था (यत्)
यदि (विषुरूपा) नाना स्वभावा । चंचला । अधार्मिका (भवति) भवेत्

(यः) जो कोई [मनुष्य] (यमस्य) [तुभ्] न्यायकारी परमेश्वर के [नाम को] (सुमन्तु) बड़ा माननीय (मनवते) मानता है, (अग्ने) हे ज्ञानमय ! (ऋष्व) हे महान् परमेश्वर ! (तम्) उसको (अप्रयुच्छन्) बिना धूके हुये (पाहि) पाल ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अन्याय करे सब संसार उलट पलट हो जावे । जो कोई मनुष्य उस की न्यायव्यवस्था पर चलते हैं, वे सुख पाते हैं ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद मन्त्र २ में आया है ॥

यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतुः सद्ने धारयन्ते । सूर्ये
ज्योतिरदधु मासि १ तून् परि द्योतनिं चरतु अजं स्वा ॥ ३५ ॥
यस्मिन् । देवाः । विदथे । मादयन्ते । विवस्वतः । सद्ने ।
धारयन्ते ॥ सूर्ये । ज्योतिः । अदधुः । मासि । अतून् । परि ।
द्योतनिम् । चरतुः । अजं स्वा ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (विदथे) विज्ञान के बीच (मादयन्ते) तृप्त रहते हैं और (विवस्वतः) प्रकाशमय [परमेश्वर] के (सद्ने) घर (ब्रह्माण्ड) में (धारयन्ते) [अपने को] ठहराते हैं । (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) ज्योति और (मासि) चन्द्रमा में (अतून्) [सूर्य की] किरणों को (अदधुः) उन [नियमों] ने रक्खा है,

(यमस्य) न्यायकारिणः परमेश्वरस्य, नाम-इत्यस्यानुवृत्तिः (यः) कश्चित् पुरुषः (मनवते) मनुते । जानाति (सुमन्तु) सुमाननीयम् (अग्ने) हे ज्ञानमय परमेश्वर (तम्) पुरुषम् (ऋष्व) सर्वनिघृष्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । ऋष गतौ दर्शने च-वन्, गुणाभावः । ऋषिदर्शनात्—निरु० २ । ११ । ऋषो महन्नाम-निघ० ३ । ३ । हे महन् परमेश्वर (पाहि) पालय (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् ॥

३५—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (विदथे) विज्ञाने (मादयन्ते) तृप्ता भवन्ति (विवस्वतः) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (सद्ने) गृहे । ब्रह्माण्डे (धारयन्ते) आत्मनं धारयन्ति (सूर्ये) सूर्यलोके (ज्योतिः) तेजः (अदधुः) धारितवन्तस्ते दिव्यनियमाः (मासि) चन्द्रलोके (अतून्) अ० १७ । १ । ६ । व्यञ्जकान् सूर्यरश्मोन् (द्योतनिम्) अर्त्तिसध० । उ० २ । १०२ ।

(अजस्रा) निरन्तर वे दोनों (द्योतनिम्) उस प्रकाशमान [परमात्मा] की (परि चरतः) सेवा करते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग ध्यान लगाकर जिस परमात्मा के ज्ञान का प्रचार संसार में फैलाते हैं, उसी परमेश्वर के नियम से सूर्य चन्द्र आदि लोक उपकार करते हैं ॥ ३५ ॥

यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये ३ न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अवादितिरनागान्तसविता देवो वरुणाय वोचत् ॥३६॥
यस्मिन् । देवाः । मन्मनि । सुम्-चरन्ति । अपीच्ये । न ।
वयम् । अस्य । विद्म ॥ मित्रः । नुः । अत्र । अदितिः ।
अनागान् । सविता । देवः । वरुणाय । वोचत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (अपीच्ये) गुप्त (मन्मनि) ज्ञान के बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (वयम्) हम लोग (अस्य) उसे (न) नहीं (विद्म) जानते हैं । (मित्रः) सब का मित्र, (अदितिः) अखण्ड, (सविता) सब का उत्पन्न करने हारा, (देवः) प्रकाशमान परमात्मा (अनागान् नः) हम निरपराधियों [धार्मिक पुरुषार्थियों] को (अत्र) इस [विषय] में (वरुणाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (वोचत्) उपदेश करे ॥ ३६ ॥

द्युत दीप्तौ—अनि । प्रकाशमानं तं परमेश्वरम् (परि चरतः) सेवेते (अज-
स्रा) निरन्तरौ तौ सूर्याचन्द्रौ ॥

३६—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (मन्मनि) ज्ञाने (संचरन्ति) विचरन्ति (अपीच्ये) ऋत्विग् दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ ।
अपि + अश्नुतेः किन् । भवे छन्दसि च । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । अपीच्यं निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । अन्तर्हिते । गुप्ते (न) निषेधे (वयम्) विद्वांसः (अस्य) इदम् (विद्म) जानीमः (मित्रः) सुहृत् (नः) अस्मान् (अत्र) यस्मिन् विषये (अदितिः) अखण्डः । अविनाशी (अनागान्) इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । २१२ । इति श्रवणाद् इण् गतौ—ड, आगादेशः । अनागसः । निरपराधिनः (सविता) सर्वोत्पादकः (देवः) प्रकाशमयः परमात्मा (वरुणाय) श्रेष्ठगुणाय (वोचत्) कथयेत् । उपदिशेत् ॥

भावार्थ—परमात्मा के नियम संसार में ऐसे गुप्त हैं कि जितना जितना विद्वान् लोग उन्हें खोजते हैं, उतना ही अधिक जानते जाते हैं । मनुष्य निरालसी होकर परमेश्वर की शरण में रहकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३६ ॥

मन्त्रौ ३७, ३८ ॥

इन्द्रो देवता [ऋग्वेदे ८ । २४ । १, २ यथा] ॥ ३७ निचृदुष्णिक् ; ३८ उष्णिक् ॥

राजनिर्वाचनोपदेशः—राजा के चुनाव का उपदेश ॥

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।

स्तुष ऊ पु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

सखायः । आ । शिषामहे । ब्रह्म । इन्द्राय । वज्रिणे ॥

स्तुषे । ऊ । इति । पु । नृ-तमाय । धृष्णवे ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (वज्रिणे) वज्र [अस्त्र-शस्त्र] रखने वाले, (नृतमाय) बहुत बड़े नेता, (धृष्णवे) साहसी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े पेश्वर्य वाले पुरुष] को (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान (स्तुषे) स्तुति करने के लिये (उ) अवश्य (सु) भले प्रकार (आ शिषामहे) हम निवेदन करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग महागुणी, नीतिज्ञ पुरुषार्थी मनुष्य को राजसिंहासन पर विराजने के लिये निवेदन करें ॥ ३७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । २४ । १ और सामवेद में पू० ४ । १० । १० ॥

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा ।

सुधैर्मघोने। अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥

३७—(सखायः) हे सुहृदः (आशिषामहे) आहुःशासु इच्छायाम्, लेटि, आडागमः । शास इदङ्हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वं छान्दसम् । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० । इति षत्वम् । इच्छेम । निवेदयेम (ब्रह्म) बृहत् तत्त्वज्ञानम् (इन्द्राय) परमेश्वर्यवते जनाय (वज्रिणे) अस्त्रशस्त्रधारिणे (स्तुषे) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्कसे० । पा० ३ । ४ । ६ । ष्टुब् स्तुनौ-कसे । स्तोतुम् (उ) एव (सु) सुष्ठु (नृतमाय) नेतृतमाय (धृष्णवे) प्रगल्भाय । साहसिने ॥

शवसा । हि । असि । श्रुतः । वृत्र-हत्येन । वृत्र-हा ॥

मघैः । मघोनः । अति । शूर । दाशसि ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि, (शूर) हे शूर ! तू (शवसा) बल से (श्रुतः) विख्यात और (वृत्रहत्येन) दुष्टों के मारने से (वृत्रहा) दुष्ट नाशक (असि) है, और (मघैः) धनों के कारण (मघोनः अति) धन वालों से बढ़कर (दाशसि) तू दान करता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—हे राजन् ! आप महाबली, शत्रुनाशक और सुपात्रों के लिये बहुत दान देने वाले हैं, इन गुणों से हम आप को राजा बनाते हैं ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । २४ । २ ॥

मन्त्रः ३६ ॥

मित्रो देवता ॥ निचृदार्षीं त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ३८
स्तेगः । न । क्षाम् । अति । एषि । पृथिवीम् । मही इति ।
नः । वाताः । इह । वान्तु । भूमौ ॥ मित्रः । नः । अत्र ।
वरुणः । युज्यमानः । अग्निः । वने । न । वि । व्यसृष्ट । शोकम् ३८

भाषार्थ—[हे राजन् !] (स्तेगः न) संग्रह कर्ता पुरुष के समान (क्षाम्) निवास देने वाली (पृथिवीम् अति) पृथिवी पर (एषि) तू चलता

३८—(शवसा) बलेन (हि) यस्मात् कारणात् (असि) (श्रुतः) विख्यातः (वृत्रहत्येन) शत्रुहननेन (वृत्रहा) दुष्टानां हन्ता (मघैः) धनैः (मघोनः) मघवतः । धनवतः पुरुषान् (अति) अतीत्य (शूर) हे वीर (दाशसि) ददासि ॥ ३६ ॥

३६—(स्तेगः) मुदिग्रोर्गंगौ । उ० १ । १२८ । स्तयै शब्दसंघातयोः—
गप्रत्ययः । पृषोदरादिरूपम् । संग्रहकर्ता पुरुषः (न) यथा (क्षाम्) अन्येष्वपि

है, (वाताः) वायुओं [के समान वेग वाले पुरुष] (इह) यहां पर [राज्य में] (नः) हमारे लिये (मही) बड़ी (भूमौ) भूमि पर (वान्तु) चले । (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (युज्यमानः) मिलते हुये (वरुणः) श्रेष्ठ (मित्रः) मित्र [आप] ने (शोकम्) प्रताप को (वि) दूर दूर (असृष्ट) फैलाया है, (अग्निः न) जैसे आग (वने) वन में [ताप फैलाता है] ॥ ३६ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बहुत धन का संग्रह करके राज्य की रक्षा करे और प्रजागणों को उद्योगी बना कर शत्रुओं को मारे ॥ ३६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ३१ । ६ । और वहां [विश्वे— देवाः] देवता हैं ॥

मन्त्रः ४० ॥

रुद्रो देवता [ऋग्वेदे २ । ३३ । ११ यथा] ॥ निष्चृत् त्रिष्टुप् ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहृत्तमुग्रम् । मृडा
जरित्रे रुद्रस्तवानो अग्न्यस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥४० (४)

स्तुहि । श्रुतम् । गर्त-सदम् । जनानाम् । राजानम् ।
भीमम् । उप-हृत्तम् । उग्रम् । मृडा । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः ।
अग्न्यम् । अस्मत् । ते । नि । वपन्तु । सेन्यम् ४० (४)

भाषार्थ—(रुद्र) हे रुद्र ! [शत्रुनाशक राजन्] (श्रुतम्) विख्यात,
(गर्तसदम्) रथ पर बैठने वाले, (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (राजानम्)

दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । क्षि निवासगत्योः—ङप्रत्ययः, टाप् । निवासयित्रीम्
(अति) प्रति (एषि) गच्छसि (पृथिवीम्) पृथिवीराज्यम् (मही) सप्तम्याम्
ईकारः । मह्याम् । महत्याम् (नः) अस्मभ्यम् (वाताः) वायव इव शीघ्रगामिनः
पुरुषाः (इह) अत्र राज्ये (वान्तु) गच्छन्तु (भूमौ) (मित्रः) मित्रभूतो
राजा (नः) अस्माकम् (अत्र) राज्ये (वरुणः) श्रेष्ठः (युज्यमानः) संगच्छ-
मानः (अग्निः) पावकः (वने) वृक्षसमूहे (न) इव (वि) विविधम् । अति-
दूरम् (असृष्ट) सृज विसर्गे—लुङ् । विस्तारितवान् (शोकम्) प्रतापम् ॥

४०—(स्तुहि) प्रशंस (श्रुतम्) विख्यातम् (गर्तसदम्) हसिमृगिण्०।
उ० ३ । ८६ । गृ विज्ञापने स्तुतौ च—तन् । रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिक-

शोभायमान, (भीमम्) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) बड़े मारने वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड [सेनापति] की (स्तुहि) बड़ाई कर । और (स्तवानः) बड़ाई किया गया तू (जरित्रे) बड़ाई करने वाले के लिये (मृड) सुखी हो, (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे पुरुष [अर्थात् शत्रु] को (ते) तेरे (सेन्यम्) सेना-दल (नि वपन्तु) काट डालें ॥ ४० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बड़े बड़े शूर सेनापतियों की बड़ाई करके आदर करे, और जो प्रजागण आदि राजा के श्रेष्ठ गुणों की स्तुति करें, वह उन्हें प्रसन्न करे और धर्मात्माओं की रक्षा करके शत्रुओं का नाश करे ॥ ४० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है । २ । ३३ । ११ ॥

मन्त्रः ४१—४३ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १० । १७ । ७-६ यथा] ॥ ४१, ४२ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।

सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

सरस्वतीम् । देव-यन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । ताय-

माने ॥ सरस्वतीम् । सु-कृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे ।

वार्यम् । दात् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को,

र्मणः स्तुततमं यानम्—निरु० ३ । ५ । रथे स्थितिशीलम् (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (राजानम्) शोभायमानम् (भीमम्) भयङ्करम् (उपहत्नुम्) अतिहन्ता-रम् (उग्रम्) प्रचण्डं सेनापतिम् (मृड) सुखी भव (जरित्रे) स्तोत्र (रुद्र) हे शत्रुनाशक (स्तवानः) स्तूयमानः (अग्न्यम्) भिन्नम् । शत्रुम् (अस्मत्) अस्मत्तः (ते) तव (नि वपन्तु) डु वप वीजसन्ताने छेदने च । नितरां छिन्दन्तु (सेन्यम्) एकवचनं बहुवचने । सेनादलानि ॥

४१—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं वेदविद्याम् (देवयन्तः) देव—क्यच् ।

(सरस्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्यगुणों को चाहने वाले पुरुष (तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार में (हवन्ते) बुलाते हैं । (सरस्वतीम्) सरस्वती को (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते) बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४१ ॥

१—मन्त्र ४१—४३ । कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं १० । १७ । ७-६ ॥

२—इस सूक्त का मिलान करो—अ० ७ । ६८ १-३ ॥

३—यह तीनों मन्त्र आगे भी हैं अ० १८ । ४ । ४५—४७ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बृहिषि मादयध्वमनुमीवा इष आ धेह्युस्मे ४२
सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-
नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बृहिषि । मादयध्वम् ।
अनुमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संयोगव्यवहार] को (अभिनक्ष-
माणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

देवान् श्रेष्ठगुणान् आत्मन इच्छन्तः (हवन्ते) आह्वयन्ति (सरस्वतीम्) (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (तायमाने) विस्तार्यमाणे (सरस्वतीम्) (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (हवन्ते) (सरस्वती) (दाशुषे) आत्मानं दत्तवते स्वभक्ताय (वार्यम्) वरणीयं स्वीकरणीयं मोक्षादिपदार्थम् (दात्) अदात् । ददाति ॥

४२—(सरस्वतीम्) विज्ञानवती वेदविद्याम् (पितरः) पालनशीला विज्ञानिनः (हवन्ते) आह्वयन्ति (दक्षिणा) दक्षिण-आच् । दक्षिणतः । सरल-
मार्गे (यज्ञम्) संयोगव्यवहारम् (अभिनक्षमाणाः) अभितो गच्छन्तः (आसद्य)

(हवन्ते) बुलाते हैं । [हे विद्वानो ! (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ४२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिलकर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं ॥४२॥

सरस्वति या सुरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४३॥
सरस्वति । या । सु-रथम् । ययाथ । उक्थैः । स्वधाभिः ।
देवि । पितृ-भिः । मदन्ती ॥ सहस्र-अर्घम् । इडः । अत्र ।
भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्ति होती हुयी (ययाथ) प्राप्त हुयी है । सो तू (अत्र) यहां

उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) बृंहर्नलोपश्च । ड० २ । १०६ । बृहि वृद्धौ—
इषि । वृद्धिकर्मणि (मादयध्वम्) तर्पयत सर्वान्, हे विद्वांसः (अनमीवाः)
पीडारहिताः (इषः) इच्छाः (आ धेहि) स्थापय, हे सरस्वति (अस्मे)
अस्मासु ॥ ४३ ॥

४३—(सरस्वति) हे विज्ञानवति वेदविद्ये (या) या त्वम् (सरथम्)
यथा भवति तथा । रमणीयगुणैः सह वर्तमाना सती (ययाथ) या प्रापणे—
लिट् । प्राप्तासि (उक्थैः) वेदोक्तस्तोत्रैः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः
सह (देवि) हे उत्तमगुणवति (पितृभिः) पालनशीलैर्विज्ञानिभिः (मदन्ती)
तृप्ता भवन्ती (सहस्रार्घम्) अर्ह पूजायाम्—घञ्, कुत्वम् । सहस्रप्रकार-

(इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों] के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४३ ॥

भावार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेदविद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं । सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४३ ॥

मन्त्राः ४४—४६ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । १—३ यथा] ॥ ४४, ४६ निचृत् त्रिष्टुप् , ४५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

उ दी॒रता॑मव॒र, उ॒त् परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ ।
असु॑ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॑ हव॑षु ॥ ४४ ॥
उ॒त् । ई॒रता॑म् । अ॒वरे॑ । उ॒त् । परा॑सः । उ॒त् । म॒ध्यमाः॑ ।
पि॒तरः॑ । सो॒म्यासः॑ ॥ असु॑म् । ये । ई॒युः । अ॒वृकाः॑ । ऋ॑त॒ज्ञाः ।
ते । नुः । अ॒वन्तु॑ । पि॒तरः॑ । हव॑षु ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अवरे) छोटे पद वाले (सोम्यासः) ऐश्वर्य के हितकारी, (पितरः) पितर [पालन करने वाले विद्वान्] (उत्) उत्तमता से, (परासः) ऊँचे पद वाले (उत्) उत्तमता से और (मध्यमाः) मध्य पद वाले (उत्) उत्तमता से (ईरताम्) चलें । (ये) जिन (अवृकाः) भेड़िये वा चोर का स्वभाव न रखने वाले, (ऋतज्ञाः) सत्य धर्म जानने वाले [विद्वानों] ने (असुम्) प्राण [बल वा जीवन] (ईयुः) पाया है (ते) वे (पितरः) पितर

पूजनीयम् (इडः) इडायाः । विद्यायाः (अत्र) अस्मिन् संसारे (भागम्) अंशम् (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (यजमानाय) संयोगकराय विदुषे (धेहि) धारय ॥

४४—(उत्) उत्तमतया (ईरताम्) गच्छन्तु (अवरे) नीचपदस्थाः (उत्) (परासः) उच्चपदस्थाः (उत्) (मध्यमाः) मध्यपदस्थाः (पितरः) पालनशीला विद्वांसः (सोम्यासः) सोमायैश्वर्याय हिताः (असुम्) प्राणम् । बलम् । जीवनम् (ईयुः) प्रापुः (अवृकाः) वृकस्य श्वापदस्य चौरस्य वा स्वभावरहिताः

[पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४४ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष को चाहिये कि विद्या, कर्म और स्वभाव की योग्यता के अनुसार विद्वानों का सुत्कार करे, जिस से वे लोग सब की रक्षा करने में सदा तत्पर रहे ॥ ४४ ॥

मन्त्र ४४-४६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५ । १, ३, २ और यजुर्वेद में १६ । ४६, ५६, ६८ और और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में भी व्याख्यात हैं ॥

आहं पितृन्सुविदत्रां अविस्ति नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ४५
आ । अहम् । पितृन् । सु-विदत्रान् । अविस्ति । नपातम् ।
च । वि-क्रमणम् । च । विष्णोः ॥ बर्हिषदः । ये । स्वधया ।
सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आ-गमिष्ठाः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमात्मा] से (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी वा बड़े धनी (पितृन्) पितरों [पालने वाले विद्वानों] को (च च) और भी (नपातम्) न गिरने वाली (विक्रमणम्) विविध प्रवृत्ति को (आ अविस्ति) पाया है । (ये) जिन आप (बर्हिषदः) उत्तम पद पर बैठने वालों ने (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (सुतस्य)

(ऋतज्ञाः) सत्यधर्मस्य ज्ञातारः (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) रक्षन्तु (पितरः) (हवेषु) संग्रामेषु ॥

४५—(आ) समन्तात् (अहम्) प्रधानजनः (पितृन्) पालकान् विदुषः (सुविदत्रान्) अ० १ । ३१ । ४ । सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । सु + विद ज्ञाने विदुल्ल लाभे च—कत्रन् । उत्तमज्ञानान् । बहुधनान् (अविस्ति) विदुल्ल लाभे—लुङ् । लब्धवानस्मि (नपातम्) पातरहितम् । अनश्वरम् (च) (विक्रमणम्) विविधप्रवृत्तिम् (च) अपि (विष्णोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (बर्हिषदः) उत्तमपदस्थाः (ये) पितरः (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (सुतस्य) ऐश्वर्ययुक्तस्य (भजन्त) अभजन्त । सेवनं कृतवन्तः (पित्वः) कमिमनिजनि० ।

पेश्वर्य युक्त (पित्वः) रक्षा साधन अन्न का (भजन्त) सेवन किया है, (ते) वे तुम सब (इह) यहां (आगमिष्ठाः) आये हो ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष परमात्मा की कृपा से धर्मात्माओं के साथ कार्य कुशलता को प्राप्त करे और जो बड़े पराक्रमी विद्वान् हों, उनका उचित सत्कार करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ४५ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥

इदम् । पितृ-भ्यः । नमः । अस्तु । अद्यः । ये । पूर्वासः । ये । अपरासः । ईयुः ॥ ये । पार्थिवे । रजसि । आ । नि-सत्ताः । ये । वा । नूनम् । सु-वृजनासु । दिक्षु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) अन्न (पितृभ्यः) उन पितरों [पालन करने वाले वीरों] के लिये (अद्य) आज (अस्तु) होवे, (ये) जो (पूर्वासः) पहिले [विद्वान्] होकर और (ये) जो (अपरासः) अर्वाचीन [नवीन विद्वान्] होकर (ईयुः) चले हैं । (ये) जो (पार्थिवे) भूमि विद्या [राजनीति आदि] सम्बन्धी (रजसि) समाज में (आ) आकर (निषत्ताः) बैठे हैं, (वा) और (ये) जो (नूनम्) निश्चय करके (सुवृजनासु) बड़े बल [गढ़ सेना आदि] वाली (दिक्षु) दिशाओं में हैं ॥ ४६ ॥

उ० १ । ७३ । पा रक्षणे—तु, पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायते-
र्वा—निरु० ६ । २४ । रक्षासाधनस्यान्नस्य (ते) तादृशाः पितरः (इह) अत्र
(आगमिष्ठाः) लुङि रूपम् । यूयम् आगताः स्थ ॥

४६—(इदम्) (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) अन्नम्
(अस्तु) (अद्य) इदानीम् (पूर्वासः) पूर्वे विद्वांसः सन्तः (ये) (अपरासः)
अपरे । अर्वाचीनाः । नूतना विद्वांसः (ईयुः) जग्मुः । गताः (ये) (पार्थिवे)
भूमिविद्यासम्बन्धिनि । राजनीतिसम्बन्धिनि (रजसि) लोके । समाजे (आ)
आगत्य (निषत्ताः) निषण्णाः । उपविष्टाः (ये) (वा) चार्थे (नूनम्) निश्च-
येन (सुवृजनासु) वृजनं बलमाम—निघ० २ । ६ । शोभनं वृजनं बलं दुर्ग-
सेनादिकं यासां तादृशीषु (दिक्षु) प्राच्यादिषु ॥

भावार्थ—राजा उन वृद्ध और युवा विद्वानों का यथोचित आदर करे जो नीतिकुशल होकर भूमि सम्बन्धी अनेक विद्याओं का प्रचार करके राज्य की उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्रः ४७ ॥

पितरो देवताः ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

पितृकर्त्तव्योपदेश—पितरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मात॑ली कु॒व्यैर्य॒ मो अ॒ङ्गिरोभि॑र्बृहस्पति॒ ऋक्भि॑र्वावृ॒धानः ।

यांश्च॑ दे॒वा वावृ॑धुर्ये च॑ दे॒वांस्ते नोऽव॑न्तु पि॒तरो ह॑वेषु ॥ ४७ ॥

मात॑ली । कु॒व्यैः । य॒मः । अ॒ङ्गिरः-भिः । बृह॑स्पतिः ।

ऋक्-भिः । व॒वृ॒धा॒नः ॥ या॒न् । च॒ । दे॒वाः । व॒वृ॒धुः । ये । च॒ ।

दे॒वान् । ते । नः । अ॒व॒न्तु । पि॒तरः । ह॑वेषु ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(मातली) ऐश्वर्य सिद्ध करने वाला, (यमः) संयमी और (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक पुरुष] (कव्यैः) बुद्धिमानों के हितकारी (अङ्गिरोभिः) विज्ञानी महर्षियों द्वारा (ऋक्भिः) बड़ाई वाले कामों से (ववृधानः) बढ़ने वाला होता है । (च) और (यान्) जिन [पितरों] को (देवाः) विद्वानों ने (ववृधुः) बढ़ाया है, (च) और (ये) जिन [पितरों] ने (देवान्) विद्वानों को [बढ़ाया है], (ते) वे (पितरः) पितर [पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४७ ॥

४७—(मातली) अ० ८ । ६ । ५ । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मा + तल प्रतिष्ठायाम्-इन् । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मां लक्ष्मीं तालयति स्थापयतीतीति मातलिः (कव्यैः) कविभ्यो हितैः (यमः) संयमी पुरुषः (अङ्गिरोभिः) अ० २ । १२ । ४ । अङ्गतेरसिरिड्डागमश्च । उ० ४ । २३६ । अगि गतौ—असि, इरुडागमश्च विज्ञानिभिः । महर्षिभिः (बृहस्पतिः) बृहतीर्ना विद्यानां पालको जनः (ऋक्भिः) ऋच् स्तुतौ—किप् । छन्दसीर्वापौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०२ । मत्वर्थे वनिप्, छान्दसं कुत्वम् । स्तुति मद्भिः कर्मभिः (ववृधानः) वर्धमानः (यान्) पितॄन् (च) (देवाः) वेद नः (ववृधुः) वर्धितवन्तः (ये) पितरः (च) (देवान्) विदुषः पुरुषाः अ यत् पूर्ववत्—म० ४४ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्य चाहने वाला जितेन्द्रिय पुरुष बड़े बड़े विद्वानों के उपदेश और वेदादि शास्त्रों के मनन से वृद्धि करके संसार की रक्षा करें ॥४७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ३ और ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्रः ४८ ॥

सोमो देवता [ऋग्वेद ६ । ४७ । १ यथा] ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शूरवीरलक्षणोपदेशः—शूरवीर के लक्षण का उपदेश ॥

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥

स्वादुः । किल । अयम् । मधु-मान् । उत । अयम् । तीव्रः ।
किल । अयम् । रस-वान् । उत । अयम् ॥ उतो इति । नु ।
अस्य । पपि-वांसम् । इन्द्रम् । न । कः । चन । सहते ।
आ-हवेषु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [सोम अर्थात् विद्यारस वा सोमलता आदि रस] (किल) निश्चय करके (स्वादुः) बड़ा स्वादु , (अयम्) यह (मधु-मान्) विज्ञान युक्त [वा मधुर गुण युक्त], (उत) और (अयम्) यह (किल) निश्चय करके (तीव्रः) तेजस्वी, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) उत्तम रस वाला [बड़ा वीर्यवान्] है । (उतो) और भी (नु) अब (अस्य) इस [रस] के (पपिवांसम्) पी चुकने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर पुरुष] को (कः चन) कोई भी (आहवेषु) संग्रामों में (न) नहीं

४८—(स्वादुः) आस्वादनीयः (किल) निश्चयेन (अयम्) सोमः ।
वेद्यारसः । सोमलतादिमहौषधिरसः (मधुमान्) मधुविद्योपेतः । मधुगुणः
(उत) अपि (अयम्) (तीव्रः) तेजस्वी (किल) (अयम्) (रसवान्)
दुवीर्यवान् (उत) (अयम्) (उतो) अपि च (नु) क्षिप्रम् (अस्य)
सस्य (पपिवांसम्) पीतवन्तम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं शूरपुरुषम् (न)

(सहते) हराता है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी होकर विद्यारस को तथा परीक्षित महौषधियों के रस को चखकर तेजस्वी होते हैं, वे ही युद्धों में शत्रुओं को हराते हैं ॥ ४८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—६। ४७। १ ॥

मन्त्रौ ४६, ५० ॥

यमो देवता[ऋग्वेदे१०। १४। १,२ यथा]॥४६ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५० निचृत् त्रिष्टुप्

परमात्मशक्त्युपदेशः—परमात्म की शक्ति का उपदेश ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥४८॥

परेयि-वांसम् । प्र-वतः । महीः । इति । बहु-भ्यः । पन्थाम् ।

अनु-पस्पशानम् ॥ वैवस्वतम् । सुम्-गमनम् । जनानाम् ।

यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) उत्तम गति वाली (महीः) बड़ी भूमियों को (परेयिवांसम्) पराक्रम से पहुँच चुके हुये, (इति) इसी से, (बहुभ्यः) बहुत से [लोकों और जीवों] के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानम्) गाँठने वाले (वैवस्वतम्) सूर्य लोकों में विदित, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्) मेल कराने वाले (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] (राजानम्)

निषेधे (कश्चन) कोऽपि (सहते) पराभवति (आहवेषु) संग्रामेषु ॥

४६--(परेयिवांसम्) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । पा० ३ । २ । १०६ ।
परा + ङ् गतौ—कस्वन्तो निपातितः । परा पराक्रमेण गतवन्तम् (प्रवतः)
अ० ३ । १ । ४ । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात्
साधने धात्वर्थे वर्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रकृष्टगतीः (महीः) भूमि-
लोकान् (इति) अस्मात् कारणात् (बहुभ्यः) सर्वलोकेभ्यः पन्थाम् (पन्थाम्) मार्गम् (अनुपस्पशानम्) स्पश वाधनग्रन्थनग्रहणसंश्लेषणेषु
कान्तम् । अनु निरन्तरं ग्रथन् प्रबध्न् (वैवस्वतम्) तत्र विदित इति च । पा०
५ । १ । ४३ । इत्यण्, बाहुलकात् । विवस्वत्सु सूर्यलोकेषु विदितम् (संगमनम्)

राजा [शासक] को (हविषा) भक्ति के साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब लोकों में व्यापक और सूर्य आदि का आकर्षक और मनुष्य आदि का नियामक है, सब लोग उस की उपासना से उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्र ४६, ५० कुछ भेद से ऋग्वेद में—१० । १४ । १, २ । और ऋग्वेद पाठ महर्षिदयानन्द कृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

य॒मो नो॑ गा॒तुं प्र॑थ॒मो वि॒वेद॑ नैषा ग॒व्यू॑तिर॒प॑भ॒र्त॒वा उ॑ । यत्रा॑
नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ । परे॒ता ए॒ना ज॑ज्ञा॒नाः प॒थ्या॑ अनु॒ स्वाः॑ ५०(५)
य॒मः । नः॑ । गा॒तुम् । प्र॒थ॒मः । वि॒वे॒द॒ । न॒ । ए॒षा । ग॒व्यू॑तिः ।
अ॒प॑-भ॒र्त॒वै । ऊ॒ इति॑ ॥ यत्र॑ । नः॑ । पूर्वे॑ । पि॒तरः॑ । परे॒-
इ॒ताः । ए॒ना । ज॒ज्ञा॒नाः । प॒थ्याः॑ । अनु॑ । स्वाः॑ ॥ ५० ॥ (५)

भाषार्थ—(प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] ने (नः) हमारे लिये (गातुम्) मार्ग (विवेद) जाना, (एषा) यह (गव्यूतिः) मार्ग (उ) कभी (अपभर्तवै) हटा धरने योग्य (न) नहीं है । (यत्र) जिस [मार्ग] में (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितर [पालन करने वाले बड़े लोग] (परेताः) पराक्रम से चले हैं, (एना) उसी से (जज्ञानाः) उत्पन्न हुये [प्राणी] (स्वाः) अपनी अपनी (पथ्याः अनु)

संगमयितारम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं परमात्मानम् (राजानम्) शासकम् (हविषा) भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

५०—(यमः) न्यायकारी परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (गातुम्) मार्गम् (प्रथमः) सर्वादिमः (विवेद) विद ज्ञाने—लिट् । ज्ञातवान् (न) निषेधे (एषा) पूर्वस्थापिता (गव्यूतिः) पद्धतिः (अपभर्तवै) तुमर्थे सेसेन—से० । पा० ३ । ४ । ६ । इति तवै । अपभर्तुं दूरीकर्तुम् (उ) निश्चयेन (यत्र) यस्मिन् मार्गे (नः) अस्माकम् (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (एना) अनेन (जज्ञानाः) जाताः प्रणिनः (पथ्याः)

सड़कों पर [चलें] ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पहिले से पहिले सब के लिये वेदमार्ग खोल दिया है, जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने उस मार्ग पर चलकर यश पाया है, उसी वेदमार्ग पर चलकर सब मनुष्य उन्नति करें ॥ ५० ॥

मन्त्रौ ५१ । ५२ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । ४, ६ यथा] ॥ ५१ विराडाषीं त्रिष्टुप्;
५२ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्यका उपदेश ॥
बर्हिषदः पितर ऊ॒त्य॑र्वा॒गि॒मा वो॑ हु॒व्या च॑कृ॒मा जु॒षध्व॑म् ।
त आ ग॒ताव॑सा श॒न्तमे॑नाधा॒ नुः शं॑ यो॒ररु॑पो द॒धात ॥ ५१ ॥
बर्हि-सदः । पितरः । ऊ॒ती । अ॒र्वाक् । इ॒मा । वुः । हु॒व्या ।
च॒कृ॒म् । जु॒षध्व॑म् ॥ ते । आ । ग॒तु । अ॒वसा॑ । श॒म्-त॑मेन ।
अ॒ध । नुः । श॒म् । योः । अ॒रुपः॑ । द॒धातु ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(बर्हिषदः) हे उत्तम पद पर बैठने हारे (पितरः) पितरो [पालने वाले वीरो] (ऊ॒ती) रक्षा के साथ (अ॒र्वाक्) सामने [होकर] (इ॒मा) इन (हु॒व्या) ग्राह्य भोजन आदि को (जु॒षध्वम्) सेवन करो [जिन को] (वुः) तुम्हारे लिये (च॒कृ॒म्) हम ने बनाया है । (ते) वे तुम (श॒न्तमे॑न) अत्यन्त सुखदायक (अ॒वसा॑) रक्षा के साथ (आ ग॒त) आओ, (अ॒ध) फिर (नुः) हमारे लिये (श॒म्) सुख, (योः) अभय और (अ॒रुपः॑) निर्दोष आचरण (द॒धातु) धारण करते रहो ॥ ५१ ॥

पथे राजमार्गाय हितान् महामार्गान् (अनु) प्रति (स्वाः) स्वीयाः ॥

५१—(बर्हिषदः) उत्तमपदे सदनशीलाः (पितरः) हे पालकाः शूरवीराः (ऊ॒ती) ऊ॒त्या । रक्षया (अ॒र्वाक्) अभिमुखं भूत्वा (इ॒मा) पुरोगतानि (वुः) युष्मभ्यम् (हु॒व्या) ग्राह्याणि भोजनादिवस्तूनि (च॒कृ॒म्) वयं संस्कृतवन्तः (ते) तादृशा यूयम् (आगत) आगच्छत (अ॒वसा॑) रक्षणेन (श॒न्तमे॑न) अति-शयसुखदायकेन (अ॒ध) पुनः (नुः) अस्मभ्यम् (श॒म् योः) शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—निरु० ४ । २१ । सुखं च अभयं च (अ॒रुपः॑) निर्दोषाचरणम् (द॒धातु) धारयेत ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पितरों का भली भांति सत्कार करें और उनसे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति की शिक्षा पावें ॥ ५१ ॥

मन्त्र ५१, ५२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं १०। १५। ४, ६ और यजुर्वेद में भी—१६। ५५, ६२ ॥

आच्या जानुं दक्षिणतो निषद्ये दं नो हविरुभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चित् नो यद् व आगः पुरुषता कराम ५२
आ-अच्य । जानुं । दक्षिणतः । नि-सद्यं । इदम् । नः ।
हविः । अभि । गृणन्तु । विश्वे ॥ मा । हिंसिष्ट । पितरः ।
केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ५२

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक विद्वानो] (विश्वे) आप सब (जानु) घुटना (आच्य) टेक कर और (दक्षिणतः) दाहिनी ओर (निषद्य) बैठकर (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) ग्राह्य अन्न को (अभि गृणन्तु) बड़ाई योग्य करें । (वः) तुम्हारा (यत्) जो कुछ (आगः) अपराध (कराम) हम करें, (केन चित्) उस किसी [अपराध] के कारण (नः) हमें (पुरुषता) अपने पुरुषपन से (मा हिंसिष्ट) मत दुःख दो ॥ ५२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पिता पितामह आदि पितरों को सत्कार पूर्वक बैठा कर भोजन आदि से सेवा किया करें और अपनी भूल चूक के लिये क्षमा मांगते रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्रः ५३ ॥

त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

५२—(आच्य) अधो निपात्य (जानु) जानुप्रदेशम् (दक्षिणतः) अवामपार्श्वतः (निषद्य) उपविश्य (इदम्) (नः) अस्माकम् (हविः) ग्राह्य-भोजनम् (अभि गृणन्तु) स्तुत्यं कुर्वन्तु । सुखेन स्वीकुर्वन्तु (विश्वे) सर्वे भवन्तः (मा हिंसिष्ट) दुःस्त्रिनो मा कुरुत (पितरः) हे रक्षका विद्वांसः (केन चित्) केनापि दोषेण (नः) अस्मान् (यत्) (वः) युष्माकम् (आगः) दोषम् (पुरुषता) स्वपुरुषतया । मनुष्यत्वेन (कराम) लेटि रूपम् । कुर्याम ॥

अज्ञाननाशोपदेशः— अज्ञान के नाश का उपदेश ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना सहो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ५३ ॥
त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । कृणोति । तेन । इदम् । विश्वम् ।
भुवनम् । सम् । एति ॥ यमस्य । माता । परि-उह्यमाना ।
सहः । जाया । विवस्वतः । ननाश ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) त्वष्टा [प्रकाशमान सूर्य] (दुहित्रे) दुहिता [पूर्ति करने वाली उषा] का (वहतुम्) चलाना (कृणोति) करता है, (तेन) उस [चलने] के साथ (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् (सम्) ठीक ठीक (एति) चलता है । (यमस्य) यम [दिन] की (माता) माता [बनाने वाली], (सहः) बड़े (विवस्वतः) प्रकाशमान सूर्य की (जाया) पत्नी रूप [रात्रि] (पर्युह्यमाना) सब ओर हटायी गयी (ननाश) छिप जाती है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य उषा अर्थात् प्रभात किरणों को फैलाता जाता है, सब जगत् अपने अपने कामों में चेष्टा करता है, और जैसे जैसे दिन चढ़ता जाता है रात्रि का अन्धकार हटता जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी पितर लोग अज्ञान हटाकर ज्ञान के प्रकाश से संसार को सुख पहुंचावे ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । १ ॥

भगवान् यास्क मुनि ने निरुक्त १२ । ११ में व्याख्या की है—“ त्वष्टा दुहिता का वहन [चलाना] करता है, यह सब भुवन ठीक ठीक चलता है

५३—(त्वष्टा) प्रकाशमानः सूर्यः (दुहित्रे) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । दुहितुः । प्रपूरयित्वा उषसः (वहतुम्) वहनम् । चालनम् । (कृणोति) करोति (तेन) पूर्वोक्तेन कर्मणा गमनेन (इदम्) विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) जगत् (सम्) सम्यक् (एति) गच्छति । चेष्टते (यमस्य) दिनस्य (माता) निर्मात्री । रात्रिः (पर्युह्यमाना) प्रकाशेन पर्युत्सार्यमाणा (सहः) महतः (जाया) पत्नीरूपा रात्रिः (विवस्वतः) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (ननाश) लङर्थे—लिट् । नश्यति । अदृष्टा भवति ॥

और यह सब प्राणी सब ओर से आकर मिलते हैं, यम की माता सब ओर को ले जायी गयी छिप गयी । रात्रि सूर्य की [पत्नी] सूर्य के उदय होने पर छिप जाती है ॥

मन्त्रौ-५४, ५५ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १४ । ७, ६ यथा] ॥ निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्योन्नत्युपदेशः—मनुष्य की उन्नति का उपदेश ॥

मेहि मेहि पृथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वं पितरः परेताः ।

उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ५४

प्र । इहि । प्र । इहि । पृथि-भिः । पू-र्याणैः । येन । ते ।

पूर्वं । पितरः । परा-इताः ॥ उभा । राजानौ । स्वधया ।

मदन्तौ । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (प्र इहि) आगे बढ़, (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पृथिभिः) मार्गों से (प्र इहि) आगे बढ़, (येन) जिस [कर्म] से (ते) तेरे (पूर्वं) पहिले (पितरः) पितर [रत्नक पिता आदि महापुरुष] (परेताः) पराक्रम से गये हैं । और (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (मदन्तौ) तृप्त होते हुये (उभा) दोनों (राजानौ) शोभायमान, [अर्थात्] (देवम्) प्रकाशमान (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] को (च) और (वरुणम्) वरुण [श्रेष्ठ जीवात्मा] को (पश्यासि) तू देखता रह ॥ ५४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पूर्व महात्माओं के वेदोक्त मार्ग पर चल कर देश देशान्तरों में जाकर उन्नति करे और सदा परमात्मा की उपासना

५४—(मेहि) प्रकर्षेण गच्छ (मेहि) (पृथिभिः) मार्गैः (पूर्याणैः) पुरो नगरान् गच्छद्भिः (येन) कर्मणा (ते) तव (पूर्वं) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (उभा) उभौ (राजानौ) शोभायमानौ (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मदन्तौ) तृप्यन्तौ (यमम्) न्याय-कारिणं परमात्मानम् (पश्यासि) पश्येः (वरुणम्) श्रेष्ठं जीवात्मानम् (च) (देवम्) प्रकाशमानम् ॥

से जीवात्मा की दशा का चिन्तन करता रहे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४, ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । ७, ६ और दोनों का ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अपैतु वीतु वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरौ लोकमक्रन् ।

अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानंस्मै ॥ ५५ ॥

अप । इतु । वि । इतु । वि । च । सर्पतु । अतः । अस्मै ।

एतम् । पितरः । लोकम् । अक्रन् ॥ अहः-भिः । अत-भिः । अक्तु-

भिः । वि-अक्तम् । यमः । ददाति । अव-सानम् । अस्मै ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (अतः) यहां से [इस घर वा विद्यालय आदि से] (अप इत) बाहिर चलो, (वि इत) विविध प्रकार चलो, (च) और (वि सर्पत) फैल जाओ, (अस्मै) इस [जीव के हित] के लिये (एतम्) यह (लोकम्) लोक [समाज] (पितरः) पितरों [रक्षक महात्माओं] ने (अकरन्) बनाया है । (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] (अस्मै) इस [समाज] को (अहोभिः) दिनों से, (अक्तुभिः) रातों से और (अद्भिः) जल [अन्न जल आदि] से (व्यक्तम्) स्पष्ट (अवसानम्) विराम [स्थिर पद] (ददाति) देता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग महापुरुषों के बनाये विद्यालय आदि से विद्या समाप्त करके विविध उद्योग करें और परमात्मा के उपकारों को विचारते हुये अपने समय और आहार विहार आदि का सुप्रयोग करके समाज को स्थिर सुख पहुंचावें ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है—१२ । ४५ ॥

५५—(अप इत) दूरे गच्छत (वि इत) विविधं गच्छत (च) (वि सर्पत) विस्तृता भवत (अतः) अस्मात् स्थानात् (अस्मै) जीवाय (एतम्) (पितरः) पालकाः पुरुषाः (लोकम्) दर्शनीयं समाजम् (अकरन्) कृतवन्तः (अहोभिः) दिवसैः (अद्भिः) जलेन । अन्नजलादिना (अक्तुभिः) रात्रिभिः (व्यक्तम्) विशदम् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (ददाति) (अवसानम्) विरामम् । स्थिरपदम् (अस्मै) समाजाय ॥

मन्त्रौ ५६, ५७ ॥

पितरो देवताः [यजुर्वेदे १४ । ७० यथा] ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तुः समिधीमहि ।

उशन्नुशत आ वह पितृन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

उशन्तः । त्वा । इधीमहि । उशन्तः । सम् । इधीमहि ॥

उशन् । उशतः । आ । वह । पितृन् । हविषे । अत्तवे ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारी !] (उशन्तः) कामना करते हुये हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (उशन्तः) अभिलाषा करते हुये हम (सम्) मेलकर (इधीमहि) तेजस्वी करें । (उशन्) कामना करता हुआ तू (उशतः) कामना करते हुये (पितृन्) पितरों [रक्षक जनों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् माता पिता आदि बड़े लोग जितेन्द्रिय विद्वान् अभ्य सन्तान की कामना करें, वैसे ही सन्तान भी उन पितृजनों की सेवा हरके गुण प्राप्त करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । १२ और यजुर्वेद में ४ । ७० और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पितृयज्ञविषय में भी व्याख्यात हैं ॥

उमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तुः समिधीमहि ।

उमान् द्युसुत आ वह पितृन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥

५६—(उशन्तः) कामयमानाः (त्वा) त्वां ब्रह्मचारिणम् (इधीमहि) पिपेयम् । तेजस्विनं कुर्याम (उशन्तः) (सम्) एकीभावे (इधीमहि) उशन्) कामयमानः (उशतः) कामयमानान् (आ वह) आनय (पितृन्) लोकान् । जनकादीन् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । हविः । ग्राह्यं भोजनम् । अत्तवे) अत्तुं भोक्तम् ॥

द्यु-मन्तः । त्वा । इधीमहि । द्यु-मन्तः । सम् । इधीमहि ॥

द्यु-मान् । द्यु-मतः । आ । वह । पितृन् । हविषे । अत्तवे ५७

भाषार्थ—[हे पुत्र !] (द्युमन्तः) बड़े गति वाले हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (द्युमन्तः) व्यवहार कुशल हम (सम्) एक होकर (इधीमहि) तेजस्वी करें । (द्युमान्) व्यवहार कुशल तू (द्युमतः) व्यवहार कुशल (पितृन्) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५६ के समान है ॥ ५७ ॥

मन्त्राः ५८-६१ ॥

पितरो देवताः ॥ ५८ निचृत् त्रिष्टुप्; ५९ आर्षी पङ्क्तिः; ६० त्रिष्टुप्; ६१ अनुष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।

तेषां वयं सुमती यज्ञियानामपि भद्रे सौमनुसे स्याम ॥ ५८ ॥

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नव-ग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः ।

सोम्यासः ॥ तेषाम् । वयम् । सु-मती । यज्ञियानाम् ।

अपि । भद्रे । सौमनुसे । स्याम् ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (अङ्गिरसः) महाविज्ञानी (पितरः) पितर [रक्षक पिता आदि बुद्धिमान् लोग] (नवग्वाः) स्तुति योग्य चरित्र वाले

५७—(द्युमन्तः) दिव्य द्युतिगतिव्यवहारेषु—विच् ततो मतुप् । दिव उत् । पा० ६ । १ । १३१ । इत्युत्त्वम् । दीप्तिमन्तः । गतिमन्तः (द्युमन्तः) व्यवहारकुशलाः (द्युमान्) व्यवहारकुशलः (द्युमतः) व्यवहारकुशलान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५६ ॥

५८—(अङ्गिरसः) महाविज्ञानिनो महर्षयः (नः) अस्माकम् (पितरः) पालका ज्ञानिनः पुरुषाः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । णु स्तुतौ—अप् + गम्लु गतौ—ङ्वप्रत्ययः । नवगतयः । स्तोतव्यचरित्राः । नवीनविद्याः प्राप्ताः

[वा नवीन नवीन विद्यार्थे प्राप्त करने और कराने हारे], (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले, (भृगवः) परिपक्व ज्ञान युक्त और (सोम्यासः) पेश्वर्य पाने योग्य [होवे] । (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) पूजनीय महापुरुषों की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने हारी (सौमनसे) मन की प्रसन्नता में (वयम्) हम (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—सन्तानों को योग्य है कि बड़े बड़े विज्ञानी माता पिता आदि पूजनीय महात्माओं की उत्तम शिक्षा को सदा ग्रहण करें ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है— १० । १४ । ६ और यजुर्वेद में १६ । ५० ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध का मिलान करो—अथर्व० ६ । ५५ । ३ तथा ७ ॥ ६५ । १ ॥

अङ्गिरोभिर्युज्ञियैरा गृहीह यमं वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बृहिष्या निषद्य ॥ ५८ ॥
अङ्गिरः-भिः । युज्ञियैः । आ । गृहि । इह । यमं । वैरूपैः ।
इह । मादयस्व ॥ विवस्वन्तम् । हुवे । यः । पिता । ते ।
अस्मिन् । बृहिषि । आ । नि-सद्य ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी जन ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी, (यज्ञियैः) पूजा योग्य पुरुषों के साथ (इह) यहां [समाज में] (आ गृहि)

प्रापयितारश्च (अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ । २८ । स्नामदिपद्यर्त्ति ० उ० ४ । ११३ । अ + थर्व चरणे गतौ = वनिप्, वकार-लोपो वा । निश्चलस्वभावाः (भृगवः) परिपक्वज्ञानयुक्ताः (सोम्यासः) सोममैश्वर्यमर्हन्ति ये (तेषाम्) (वयम्) (सुमतौ) कल्याणबुद्धौ (यज्ञिया-नाम्) पूजार्हाणाम् (अपि) (भद्रे) मङ्गलप्रदे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसादे (स्याम) भवेम ॥

५६—(अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (यज्ञियैः) पूजाहर्तैः (आ गृहि) आगच्छ (इह) अस्मिन् समाजे (यम) हे संयमिन् पुरुष (वैरूपैः) अ० १५ । २ । १६ ।

तू आ, और (वैरूपैः) विविध पदार्थों के निरूपण करने वाले वेद ज्ञानों से (इह) यहां (मादयस्व) [हमें] तृप्त कर । (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) उत्तम पद पर (आ) भले प्रकार (निषद्य) बैठकर (विवस्वन्तम्) प्रकाशमय परमात्मा को (हुवे) मैं बुलाना हूं, (यः) जो (ते) तेरा (पिता) पालक है ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष विविध विद्वानों के सत्संग से अनेक विद्यायें प्राप्त करके वेदाभ्यास द्वारा परमात्मा का विचार करें ॥ ५६ ॥

मन्त्र ५६, ६० कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १४। ५, ४ और दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः । आ
त्वा मन्त्राः कविशुस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व ६०
इमम् । यम् । प्र-स्तरम् । आ । हि । रोह । अङ्गिरः-भिः ।
पितृ-भिः । सं-विदानः ॥ आ । त्वा । मन्त्राः । कवि-शुस्ताः ।
वहन्तु । एना । राजन् । हविषा । मादयस्व ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी पुरुष ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी (पितृभिः) पितरों [रक्षक लोगों] से (हि) ही (संविदानः) मिला हुआ तू (इमम्) इस (प्रस्तरम्) विस्तीर्ण आसन पर (आ रोह) ऊंचा हो । (त्वा) तुझे (मन्त्राः) मन्त्र कुशल [बड़े विचारशील] (कविशुस्ताः)

विरूप—अण । विविधपदार्थानां रूपं निरूपणं येभ्यः सकाशात् तैर्वेदज्ञानैः (इह) (मादयस्व) अस्मान् तर्पयस्व (विवस्वन्तम्) प्रकाशमयं परमात्मानम् (हुवे) आह्वयामि (यः) (पिता) पालकः (ते) तव (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमे पदे (आ) समन्तात् (निषद्य) उपविश्य ॥

६०—(इमम्) (यम) हे संयमिन् पुरुष (प्रस्तरम्) विस्तीर्णमासनम् (हि) निश्चयेन (आ रोह) आरूढो भव (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (पितृभिः) पालकैः (संविदानः) संगच्छमानः (त्वा) शूरम् (मन्त्राः) मन्त्र-अर्श आद्यम् । मन्त्रकुशलाः । महाविचारशीलाः (कविशुस्ताः) मेधाविष

विद्वानां मे श्रेष्ठ पुरुष (आ वहन्तु) बुलावें (राजन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष !
(एना) इस (हविषः = हविषा) भक्तिदान से (मादयस्व) [हमें] प्रसन्न
करे ॥ ६० ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी पुरुष विद्वानों के मेल से उच्च पद
प्राप्त करें और अपने शुभ गुण और पराक्रम से सब प्रजा को सदा प्रसन्न
रखें ॥ ६० ॥

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।

प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

इतः । एते । उत् । आ । अरुहन् । दिवः । पृष्ठानि । आ ।
अरुहन् ॥ प्र । भूः-जयः । यथा । पथा । द्याम् । अङ्गिरसः ।
ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

भाषार्थ—(एते) यह [पितर लोग] (इतः) इस [सामान्य दशा]
से (उत्) उत्तमता के साथ (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं, और (दिवः) व्यव-
हार के (पृष्ठानि) पृष्ठने योग्य स्थानों पर (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं ।
(भूर्जयः यथा) भूमि जीतने वालों के समान (पथा) सन्मार्ग से (अङ्गिरसः)
विद्वानां महर्षि लोग (द्याम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (ययुः) प्राप्त
हुये हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े महात्मा ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ विद्या ग्रहण
करके सामान्य अवस्था से ऊंचे हुये हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य परिश्रम और

प्रशस्ताः (आ वहन्तु) आनयन्तु (एना) एनेन । अनेन (राजन्) ऐश्वर्यवान्
(हविषः) तृतीयार्थे षष्ठी । हविषा । भक्तिदानेन (मादयस्व) अस्मान्
प्रसादय ॥

६१—(इतः) अस्मात्) स्थानात् । सामान्यदशासंकाशात् (एते)
पितरः (उत्) उत्तमतया (आ अरुहन्) आरूढा अभवन् (दिवः) व्यव-
हारस्य (पृष्ठानि) प्रष्टव्यानि स्थानानि (आ अरुहन्) (प्र) प्रकर्षेण
(भूर्जयः) भू सत्तायाम्—रुक् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० । ३ । २ । ७५ ।
जि जयै—विच् । भूभुवो भूमेर्जेतारः (यथा) सादृश्ये (पथा) सन्मार्गेण (द्याम्)
विद्याप्रकाशम् (अङ्गिरसः) महाविद्वानिनः (ययुः) प्रापुः ॥

उद्योग करके सदा उन्नति करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है—यू० १ । १० । २ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २ [मन्त्राः १-६०] ॥

मन्त्राः १—३ ॥

यमो देवता ॥ १, ३, अनुष्टुप्; २ विराट् पथ्या बृहती ॥

ईश्वरभक्त्युपदेशः—ईश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

य॒माय॑ सोमः॑ पव॑ते य॒माय॑ क्रि॒यते॑ ह॒विः ।

य॒मं ह॑ य॒ज्ञो ग॑च्छत्य॒ग्निदू॑तो अ॒रं॑कृतः ॥ १ ॥

य॒माय॑ । सोमः॑ । प॒व॒ते । य॒माय॑ । क्रि॒य॒ते । ह॒विः ॥ य॒मम् ।

ह॒ । य॒ज्ञः । ग॒च्छ॒ति । अ॒ग्नि-दू॑तः । अ॒रं॑स्-कृतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (सोमः) ऐश्वर्यवान् [जीवात्मा] (पवते) अपने को शुद्ध करता है, (यमाय) यम [न्यायकारी ईश्वर] के लिये (हविः) भक्तिदान (क्रियते) किया जाता है । (यमम्) यम [परमेश्वर] को (ह) ही (यज्ञः) संगति वाला संसार (गच्छति) चलता है, [जैसे] (अरंकृतः) पर्याप्त किया हुआ (अग्निदूतः) अग्नि से तपाया हुआ [जल आदि रस ऊपर जाता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से ईश्वर भक्ति करके ऐश्वर्यवान् होवे । वह परमात्मा इतना बड़ा है कि यह सब संसार उसी की आज्ञा में

१—(यमाय) सर्वनियामकाय । न्यायकारिणे परमात्मने (सोमः) ऐश्वर्ययुक्तो जीवात्मा (पवते) आत्मानं शोधयति (यमाय) (क्रियते) अनुष्ठीयते (हविः) हु दानादानादनेषु—इति । भक्तिदानम् (यमम्) परमेश्वरम् (ह) एव (यज्ञः) संयोगं प्राप्तः संसारः (गच्छति) प्राप्नोति (अग्निदूतः) द्रु द्रु उपतापे—क्त, दीर्घः । अग्निना परितापिता जलादिरसो यथा (अरंकृतः) पर्याप्तीकृतः ॥

चलता है, जैसे अग्नि के पूरे ताप से भाप ऊंचा उठता है ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । १३, १५, १४ ।
ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

य॒माय॒ मधु॑मत्तमं जु॒होता॑ प्र च॑ तिष्ठत ।

इ॒दं नम॑ ऋषि॒भ्यः॑ पू॒र्व॒जेभ्यः॑ पू॒र्वेभ्यः॑ प॒थि॒कृद्भ्यः॑ ॥ २ ॥

य॒माय॑ । मधु॑मत्-तमस् । जु॒होत॑ । प्र । च॑ । ति॒ष्ठत॑ ॥ इ॒दम् ।

नमः॑ । ऋषि॑-भ्यः । पू॒र्व॒जेभ्यः॑ । पू॒र्वेभ्यः॑ । प॒थि॒कृत्-भ्यः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (मधु-
मत्तमम्) अत्यन्त विज्ञान युक्त कर्म (जुहोत) तुम दान करो, (च) और
(प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा पावो (इदम्) यह (नमः) नमस्कार (पूर्वैभ्यः) पहिले
[पूर्ण विद्वान्], (पथिकृद्भ्यः) मार्ग बनाने वाले (पूर्वजेभ्यः) पूर्वज
(ऋषिभ्यः) ऋषियों [महाज्ञानियों] को है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक उस जगदीश्वर को आत्मसमर्पण
करके संसार में प्रतिष्ठा पावे और जो महर्षि वेदानुकूल ग्रन्थ रचना और
शिक्षा करें, उस से सुधार करके उनका उद्देश्य पूरा करें ॥ २ ॥

य॒माय॑ घृ॒तव॑त् प॒यो रा॒ज्ञे हु॒विर्जु॑ होतन ।

स नो॑ जी॒वेष्व॑ य॒मेद्दी॑र्घमायुः प्र जी॒वसे॑ ॥ ३ ॥

य॒माय॑ । घृ॒त-व॑त् । प॒यः । रा॒ज्ञे । हु॒विः । जु॒होत॑न् ॥ सः ।

नः । जी॒वेषु॑ । आ । य॒मेत् । दी॒र्घम् । आयुः॑ । प्र । जी॒वसे॑ ॥ ३ ॥

२—(यमाय) सर्वनियामकाय परमात्मने (मधुमत्तमम्) मन
ज्ञाने—उ, नस्य धः, तमप् । अतिशयेन विज्ञानयुक्तं कर्म (जुहोत) जुहुत । सम-
र्पयत (च) (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठां प्राप्तुत (इदम्) (नमः) सत्कारः (ऋषि-
भ्यः) वेदार्थदर्शकेभ्यः (पूर्वजेभ्यः) पथमोत्पन्नेभ्यः (पूर्वैभ्यः) प्रथमेभ्यः ।
पूर्णविद्वद्भ्यः (पथिकृद्भ्यः) सन्मार्गकर्तृभ्यः ॥

भाषार्थ—(यमाय राज्ञे) यम राजा [न्यायकारी शासक परमेश्वर] के लिये (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (पयः) विज्ञान और (हविः) भक्ति दान का (जुहोतन) तुम दान करो । (सः) वह [परमात्मा] (नः) हमें (जीवेषु) जीवों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (प्र) उत्तम (जीवसे) जीवन के लिये (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञानपूर्वक परमात्मा की आज्ञा मानकर ब्रह्मचर्य आदि से आप चलते और दूसरों को चलाते हैं, वे अपना जीवन बढ़ाकर शुभ कर्म से यश पाते हैं ॥ ३ ॥

मन्त्राः ४—१० ॥

अग्निर्देवता ॥ ४, ७ निचृज् जगती ; ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ६ अनुष्टुप् ; ७ त्रिष्टुप् ; ८ भुरिगार्गी जगती ; १० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । शृतं युदा करसि जातवेदोऽयमेनं प्र हिणुतात् पितृ रूपं ॥ ४ ॥

मा । ए॒न॒म् । अ॒ग्ने॒ । वि॒ । दु॒हः॒ । मा॒ । अ॒भि॒ । शू॒शु॒चः॒ ।
मा॒ । अ॒स्य॒ । त्वच॑म् । चि॒क्षि॒पुः॒ । मा॒ । शरी॑रम् ॥ शृ॒तम् ।
यु॒दा॒ । कर॑सि । जा॒त॒-वे॒दः॒ । अ॒यं॑ । ई॒म् । ए॒न॒म् । प्र॒ ।
हि॒नु॒तात् । पि॒त॒र॑न् । उ॒प॑ ॥ ४ ॥

३—(यमाय) न्यायकारिणे परमात्मने (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (पयः) पय गतौ—असुन् । विज्ञानम् (राज्ञे) सर्वशासकाय (हविः) भक्तिदानम् (जुहोतन) जुहुत । समर्पयत (सः) परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (जीवेषु) जीवत्सु प्राणिषु (आ यमेत्) प्रयच्छेत् । दद्यात् (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् (प्र) प्रकृष्टाय (जीवसे) जीवनाय ॥

भाषार्य—(अग्ने) हे विद्वान् ! [आचार्य] (एनम्) इस [ब्रह्म-
चारी] को (वि) विपरीत भाव से (मा दहः) मत जला [मत कष्ट दे]
और (मा अभि शूशुचः) मत शोक में डाल, (मा) न (अस्य) इसकी
(त्वचम्) त्वचा को और (मा) न (शरीरम्) शरीर को (चिक्षिपः)
गिरने दे । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [आचार्य !] (यदा) जब
[इसे] (शृतम्) परिपक्व [बड़ा ज्ञानी] (करसि) तू कर लेवे, (अथ) तब
(ईम्) ही (एनम्) इस [शिष्य] को (पितॄन् उप) पितरों [रक्षक
विद्वानों] के पास (प्र) अच्छे प्रकार (हिनुतात्) तू भेज ॥ ४ ॥

भाषार्य—आचार्य शिष्यों को विपरीत भाव से मानसिक वा शारी-
रिक कष्ट कदापि न देवे, किन्तु कोमल भाव से उन्हें पक्का ज्ञानी बनावे, जिस
से वे विद्वान् लोगों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४, ५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १६ । १, २ ॥

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथे समेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशुनीर्भवाति ॥ ५ ॥

यदा । शृतम् । कृणवः । जात-वेदः । अथ । इमम् । एनम् ।
परि । दत्तात् । पितृ-भ्यः ॥ यदो इति । गच्छाति । असु-
नीतिम् । एताम् । अथ । देवानाम् । वशु-नीः । भवाति ५

४—(एनम्) ब्रह्मचारिणम् (अग्ने) हे विद्वन् आचार्य (वि) विप-
रीतभावेन (मा दहः) दहनं मा कुरु । कष्टं मा देहि (अभि) (मा शूशुचः)
शुच शोके—णिचि लुङ् । शोकयुक्तं मा कुरु (अस्य) ब्रह्मचारिणः (त्वचम्)
(मा चिक्षिपः) क्षिप प्रेरणे—णिचि लुङ् । मा विकिर (मा) निषेधे (शरी-
रम्) (शृतम्) आ पाके—क्त । शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । इति शृभावः ।
परिपक्वम् । दृढज्ञानयुक्तम् (यदा) (करसि) लेटि रूपम् । त्वं कुर्याः (जात-
वेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (अथ) अनन्तरम् (ईम्) एव (एनम्) ब्रह्मचारिणम्
(प्र) प्रकर्षेण (हिनुतात्) त्वंहिनु । प्रेरय (पितॄन्) पालकान् पुरुषान्
(उप) प्रति ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले ! [आचार्य] (यदा) जा (इमम्) इन [ब्रह्मचारी] को (श्रुतम्) [दृढ़ ज्ञानी] (कृणवः) तू कर लेवे, (अथ) तब (एनम्) इस [परिश्रमी] को (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (परि दत्तात्) तू दे दे । (यदो) जब ही वह (एताम्) इस (असुनीतिम्) बुद्धि के साथ नीति [उन्नति मार्ग] को (गच्छाति) पावे, (अथ) तब वह (देवानाम्) दिव्य पदार्थों का (वशनीः) वश में लाने वाला (भवाति) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी आचार्य से शिक्षा पाकर विद्वानों में गिना जावे, तब वह अपनी बुद्धि और विद्या के बल से संसार के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के परीक्षण से उपकार करे ॥ ५ ॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकुमिद् बृहत् ।

त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आपिता ॥ ६ ॥

त्रि-कद्रुकेभिः । पवते । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् ॥

त्रि-स्तुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आपिता ६

भाषार्थ—(एकम् इत्) एक ही (बृहत्) बड़ा [ब्रह्म] (त्रिकद्रुकेभिः) तीन [संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय] के विधानों से (षट्) छह

५—(यदा) (श्रुतम्) म० ४ । परिपक्वं दृढज्ञानिनम् (कृणवः) कृवि हिंसाकरणयोः—लेटि अडागमः । त्वंकुर्याः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (अथ) तदा (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (एनम्) परिश्रमिणं शिष्यम् (परिदत्तात्) समर्पय (पितृभ्यः) रक्षकविद्वद्भ्यः (यदो) यदा हि (गच्छाति) स प्राप्नुयात् (असुनीतिम्) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रज्ञया सह नीति-मुन्नतिमार्गम् (एताम्) प्रसिद्धां वेदविहिताम् (अथ) तदा (देवानाम्) उत्तमपदार्थानाम् (वशनीः) वशे नेता (भवाति) भूयात् ॥

६—(त्रिकद्रुकेभिः) अ० २ । ५ । ७ । रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । त्रि + कद् आह्वाने—क्रुन्, समासान्तः कप् । त्रयाणां संसारोत्पत्तिस्थितिविना-

(उर्वीः) चौड़ी दिशाओं को (पवते) शोधता है । (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्, (गायत्री) गायत्री और (ता) वे [दूसरे] (सर्वा) सब (छन्दांसि) छन्द [वेद मन्त्र] (यमे) यम [न्यायकारी परमात्मा] में (आर्पिता) ठहरे हुये हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीची और ऊंची दिशा में व्यापक है, और सब छन्द अर्थात् चारों वेद उसी परमात्मा का गान करते हैं, हे मनुष्यो ! उसी की उपासना करके अपनी उन्नति करो ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । १६ ॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठ शरीरैः ॥ ७ ॥

सूर्यम् । चक्षुषा । गच्छ । वातम् । आत्मना । दिवम् । च । गच्छ । पृथिवीम् । च । धर्म-भिः॥ अपः । वा । गच्छ । यदि । तत्र । ते । हितम् । ओषधीषु । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः७

भाषार्थ—[हे जीव !] तू (सूर्यम्) सूर्य [तत्र] को (चक्षुषा) नेत्र से, (वातम्) वायु को (आत्मना) प्राण से (गच्छ) प्राप्त हो, (च) और (धर्मभिः) धर्मों [उनके धारण गुणों] से (दिवम्) आकाश को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी को (गच्छ) प्राप्त हो (वा) और (अपः) जल को

शानां कद्रुकैः, आह्वानैर्विधानैः (पवते) पुनाति । शोधयति (षट्) प्राच्यदि- षट्संख्याकाः (उर्वीः) विस्तीर्णा दिशाः (एकम्) अद्वितीयम् (इत्) एव (बृहत्) ब्रह्म (त्रिष्टुप्) छन्दोविशेषः (गायत्री) छन्दोविशेषः (छन्दांसि) वेदमन्त्राः (सर्वा) सर्वाणि (ता) तानि । इतराणि (यमे) न्यायकारिणि परमात्मनि (आर्पिता) स्थापितानि ॥

७—(सूर्यम्) सूर्यतत्त्वम् (चक्षुषा) नेत्रविज्ञानेन (गच्छ) प्राप्नुहि । ज्ञानीहि (वातम्) वायुतत्त्वम् (आत्मना) प्राणेन (दिवम्) आकाशतत्त्वम् (च) (गच्छ) (पृथिवीम्) पृथिवीतत्त्वम् (च) (धर्मभिः) तेषां धारणगुणैः

(गच्छ) प्राप्त हो, और (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न आदिकों] में (शरीरैः) [उनके] अङ्गों सहित (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (यदि) क्योंकि (तत्र) वहां [उन सब में] (ते) तेरा (हितम्) हित है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नेत्र आदि इन्द्रियों की रचना और उपकारों से सूर्य आदि के तत्त्वों को जानकर विज्ञान द्वारा अन्न आदि पदार्थों और उनके अङ्गों से अपना और संसार का भला करते हैं वे ही सर्वहितकारी होते हैं ॥ ७॥

मन्त्र ७, ८ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १६। ३, ४ और ऋग्वेद पाठ महर्षिदयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अजो भागस्तपस्वस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्तं शिवास्तुन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतासु लोकम् ॥८
अजः । भागः । तपसः । तम् । तपस्व । तम् । ते । शोचिः ।
तपतु । तम् । ते । अर्चिः ॥ याः । ते । शिवाः । तुन्वः ।
जात-वेदः । ताभिः । बहु । एनम् । सु-कृतासु । जं इति ।
लोकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—[हे जीव !] (अजः) अजन्मा [वा गतिमान् जीवात्मा] (तपसः=तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (भागः) सेवनीय है, (तम्) उसे (तपस्व) प्रतापी कर, (तम्) उसे (ते) तेरा (शोचिः) पवित्र कर्म और (तम्) उसे (ते) तेरा (अर्चिः) पूजनीय व्यवहार (तपतु) ऐश्वर्य युक्त करे । (जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः)

(अपः) जलम् (वा) च (गच्छ) (यदि) यतः (तत्र) तेषु पूर्वोक्तेषु (ते) तव (हितम्) इष्टम् (ओषधीषु) व्रीहियवादिषु (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (शरीरैः) अवयवैः ॥

८—(अजः) न जायते, जन—ड, यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः—अच् । अजा अजनाः—निरु० ४। २५ । अजन्मा । गतिमान् । जीवात्मा (भागः) सेवनीयः (तपसः) तृतीयार्थे षष्ठी । तपसा । ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (तम्) जीवात्मानम् (तपस्व) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च । प्रतापिनं कुरु (तम्) (ते) तव (शोचिः) शुच शौचे—इति । शौचं पवित्रकर्म (तपतु) ऐश्वर्यवन्तं करोतु

कर्याणकारी (तन्वः) उपकार शक्तियां हैं, (ताभिः) उनसे (एनम्) इस [जीवात्मा] को (सुकृतम्) पुण्यात्माओं के (लोकम्) लोक [समाज] में (उ) अवश्य (वह) लेजा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन, वेदाध्ययन और शुभ आचरण से आत्मवान् हाकर उपकारी होवें, वे हो पुण्यात्माओं में गिने जावें ॥ ८ ॥

यास्तं शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापूणासि दिवसुन्तरि-
क्षम् । अजं यन्तुमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः
शृतं कृधि ॥ ८ ॥

याः । ते । शोचयः । रंहयः । जात-वेदः । याभिः । आ-पू-
णासि दिवम् । सुन्तरिक्षम् ॥ अजम् । यन्तम् । अनु ।
ताः । सम् । ऋण्वताम् । अथ । इतराभिः । शिव-तमाभिः ।
शृतम् । कृधि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! [मनुष्य] (याः) जो (ते)
तेरी (शोचयः) पवित्र क्रियायें और (रंहयः) वेग क्रियायें हैं और (याभिः)
जिन [क्रियाओं] से (दिवम्) व्यवहार कुशल [वा गतिमान्] (अन्तरिक्षम्)
मध्यवर्ती हृदय को (आपूणासि) तू सब ओर से पूर्ण करता है । (ताः) वे
[सब क्रियायें] (यन्तम्) चलते हुये (अजम् अनु) अजन्मे [वा गतिशील

(तम्)(ते)(अर्चिः) अर्च पूजायाम्—इसि । पूजनीयव्यवहारः (याः) (ते) तव
(शिवाः) सुखकराः (तन्वः) तन उपकारे—ऊ । उपकारशक्तयः (जातवेदः)
हे प्रसिद्धज्ञान । महाविद्वन् (ताभिः) उपकारशक्तिभिः (वह) प्रापय (एनम्)
जीवात्मानम् (सुकृतम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोकम्) समाजम् ॥

६—(याः) (ते) तव (शोचयः) शुचिक्रियाः (रंहयः) रहि गतौ—
इप्रत्ययः । वेगक्रियाः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान महाविद्वन् (याभिः) पूर्वा-
काभिः (आपूणासि) समन्तात् पूरयसि (दिवम्) दिव्य व्यवहारे गतौ च-क ।
व्यवहारकुशलम् । गतियुक्तम् (अन्तरिक्षम्) मध्ये दृश्यमानं हृदयम् (अजम्)
अजन्मानं गतिमन्तं वा जीवात्मानम् (यन्तम्) इण् गतौ-शतृ । गच्छन्तम् ।

जीवात्मा] के अनुकूल होकर (सम्) ठीक ठीक (ऋणवताम्) चलें, (अथ) फिर तू (इतराभिः) दूसरी [ईश्वर की प्राप्ति वाली] (शिवतमाभिः) अत्यन्त कल्याणकारी [क्रियाओं] से [जीवात्मा] को (श्रुतम्) परिपक्व (कृधि) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी शुद्ध और वेग वाली वृत्तियों को व्यवहार कुशल वा गतिमान् मन में ठहराकर पुरुषार्थी जीवात्मा को खोजते हैं, वे ही फिर परमात्मा को पाकर पक्के ज्ञानी होते हैं ॥ ६ ॥

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने॒ पित॑रभ्यो॒ यस्तु॑ आहु॑तश्चर॑ति स्वधा॒वान् ।
आयु॑र्वसान् उप॑ यातु शेषः॒ सं गच्छ॑तां तुन्वा॑ सुवर्चाः॥१०॥ (७)
अव॑ । सृज॒ । पुनः॑ । अग्ने॒ । पित॑र-भ्यः॑ । यः । ते । आ-हु॑तः ।
चर॑ति । स्वधा-वा॒न् ॥ आयुः॑ । वसानः॑ । उप॑ । यातु । शेषः॑ ।
सम् । गच्छ॑ताम् । तुन्वा॑ । सु-वर्चाः॑ ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (पुनः) बारम्बार (पितृभ्यः) पितरों [रत्नक महापुरुषों] को [अपने आत्मा का] (अव सृज) दान कर, (यः) जो [आत्मा] (ते) तुझ को (आहुतः) यथावत् दिया हुआ (स्वधा-वान्) अपनी धारण शक्ति वाला (चरति) विचरता है । (शेषः) विशेष गुणी [वह आत्मा] (आयुः) जीवन (वसानः) धारण करता हुआ (उप यातु) आवे और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तुन्वा) उपकार शक्ति के साथ

(ताः) पूर्वोक्ताः क्रियाः (ऋणवताम्) ऋण गतौ-लोटे । गच्छन्तु (अथ) पुनः । जीवात्मप्राप्तिपश्चात् (इतराभिः) जीवात्मभिन्नाभिः परमात्मप्राप्ति-क्रियाभिः (शिवतमाभिः) अत्यन्तसुखकराभिः (श्रुतम्) परिपक्वज्ञानम् (कृधि) कुरु—जीवात्मानमिति शेषः ॥

१०—(अव सृज) त्यज । देहि—स्वात्मानमिति शेषः (पुनः) वारंवारम् (अग्ने) हे विद्वन् (पितृभ्यः) रत्नकमहापुरुषाणां हिताय (यः) आत्मा (ते) तुभ्यम् (आहुतः) समन्ताद् दत्तः (चरति) गच्छति (स्वधावान्) स्वधारणशक्तिमान् (आयुः) जीवनम् (वसानः) दधानः (उपयातु) आ-गच्छतु (शेषः) शिषत्त्व विशेषणे—अच् । विशेषगुणी (संगच्छताम्) (तुन्वा)

(सं गच्छताम्) मिलता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सेवा और परोपकार में स्वविश्वासी होकर विचरे और अपने जीवन को विशेष गुणी बनाकर लोक परलोक में कीर्ति पावे ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १६। ५। और महर्षि दयानन्द-कृत संस्कारविधिअन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ११—१३ ॥

श्वानौ देवते ॥ ११, १२ त्रिष्टुप् ; १३ विराड् जगती ॥

कालस्य सुप्रयोगोपदेशः—समय के सुप्रयोग का उपदेश ॥

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधः पितृन्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधुमादं मदन्ति ११
अति । द्रव । श्वानौ । सारमेयौ । चतः-क्षौ । शबलौ ।
साधुना । पथा ॥ अधः । पितृन् । सु-विदत्रान् । अपि । इहि ।
यमेन । ये । सधु-मादम् । मदन्ति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] तू (सारमेयौ) सार कर्मों से प्रमाण करने योग्य, (चतुरक्षौ) चार दिशाओं में व्यापक, (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] को (साधुना) धर्म के साधने वाले (पथा) मार्ग से (अति) पार करके (द्रव) चल । (अधः) तब (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी (पितृन्) पितरों [रत्नक महापुरुषों] को (अपि) निश्चय करके (इहि)

उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महातेजस्वी ॥

११—(अति) अतीत्य (द्रव) गच्छ (श्वानौ) श्वन्नुक्षन्पूषन्० ।
उ० १। १५६ । इ ओ शिव गतिवृद्धयोः—कनिन् । गमनशीलौ रात्रिदिवसौ
(सारमेयौ) सार + माड् माने—यत् । ईद्यति । पा० ६। ४। ६५ । इति ईत्त्वम् ।
सारकर्मभिः प्रमेयौ प्रतिपादनीयौ बोधनीयौ (चतुरक्षौ) अक्षू व्याप्तौ-अच् ।
चतसृषु दिक्षु व्यापकौ (शबलौ) कबूरवर्णौ । श्यामश्वेतौ (साधुना)
साध संसिद्धौ-उण् । धर्मसाधकेन (पथा) मार्गेण (अधः) अध । अनन्तरम्
(पितृन्) पालकान् महापुरुषान् (सुविदत्रान्) महाज्ञानान् (अपि) अवश्यम्

प्राप्त हो, (ये) जो [पितर] (यमेन) न्यायकारी परमात्मा के साथ (सध-
मादम्) मिले हुये हर्ष को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य गमनशील समय का धर्म मार्ग में सुप्रयोग करते
हैं, वे महाविद्वानों के समान परमात्मा से मिलकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १४। १०—१२ ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥१२॥

यौ । ते । श्वानौ । यम् । रक्षितारौ । चतुः-अक्षौ । पथि-
सदी इति पथि-सदी । नृ-चक्षसा ॥ ताभ्याम् । राजन् । परि ।
धेहि । एनम् । स्वस्ति । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ॥१२

भाषार्थ—(यम) हे संयमी मनुष्य ! (यौ) जो (चतुरक्षौ) चारो
दिशाओं में व्यापक, (पथिषदी) मार्ग में बैठने वाले, (नृचक्षसा) नेता पुरुषों
से देखने योग्य (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] (ते) तेरे (रक्षितारौ)
दो रक्षक हैं । (राजन्) है ऐश्वर्यवान् जीव ! (ताभ्याम्) उन दोनों [राति
दिन] को (एनम्) यह [अपना आत्मा] (परि धेहि) सौंप दे, और (अस्मै)
इस [अपने आत्मा] को (स्वस्ति) सुन्दर सत्ता [बड़ा कल्याण] (च)
और (अनमीवम्) नीरोगता (धेहि) दे ॥ १२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम पूर्ण भक्ति से अपने समय को धर्म में

(इहि) प्राप्नुहि (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना (ये) पितरः (सध-
मादम्) सहहर्षम् (मदन्ति) हर्षन्ति । सेवन्ते ॥

१२—(यौ) रात्रिदिवसौ (ते) तव (श्वानौ) म० ११ । गमनशीलौ
(यम) हे संयमिन् जीव (रक्षितारौ) रक्षकौ (चतुरक्षौ) म० ११ । चतसृषु
दिक्षु व्यापकौ (पथिषदी) षट्क्षु विशरणगत्यवसादनेषु—इन् । मार्गे सीदन्तौ
व्यापकौ (नृचक्षसा) नेतृमनुष्यैर्द्रष्टव्यौ (ताभ्याम्) रात्रिदिवसाभ्याम्
(राजन्) ऐश्वर्यवान् पुरुष (परि धेहि) डु धाञ् दाने । समर्पय (एनम्)
स्वात्मानम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । महत्कल्याणम् (अस्मै) स्वात्मने (अन-
मीवम्) नैरोग्यम् (च) (धेहि) देहि ॥

लगाओगे, तौ तुम नीरोग रह कर सदा आनन्द भोगोगे ॥ १२ ॥

उरुणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतौ जनान् अनु ।

तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमुद्योह भद्रम् ॥ १३ ॥

उरु-नसौ । असु-तृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः ।

जनान् । अनु ॥ तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः ।

दाताम् । असुम् । अद्य । इह । भद्रम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) संयमी पुरुष के (दूतौ) उत्तेजक (उरुणसौ) बड़ी गति वाले, (असुतृपौ) बुद्धि को तृप्त करने वाले, (उदुम्बलौ) दृढ़ बल वाले दोनों [राति दिन] (जनान् अनु) मनुष्यों में (चरतः) विचरते हैं । (तौ) वे दोनों (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (सूर्याय दृशये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने के लिये (अद्य) अब (इह) यहां पर (असुम्) बुद्धि और (भद्रम्) आनन्द (पुनः) बारम्बार (दाताम्) देते रहें ॥ १३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य समय के लक्षणों को पूरा विचार कर ऐसा प्रयत्न करें कि वे दोनों राति दिन अपने लिये बुद्धि और आनन्द बढ़ाते रहें ॥ १३ ॥

मन्त्राः १४—१८ ॥

यमो देवता ॥ १४—१८ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्संगत्या वृद्ध्युपदेशः—विद्वानों के सत्संग से बढ़ती का उपदेश ॥

१३—(उरुणसौ) णस कौटिल्ये गतौ च—क्विप् । नसतेर्गतिकर्मा—निघ ०२ । १४ । विस्तीर्णगतिमन्तौ (असुतृपौ) प्रज्ञातर्पकौ (उदुम्बलौ) उड संहतौ सौ० धा०—कु, डस्य दः, यद्वा उन्दी क्लेदने—कु + बल संवरणे—खच् । संहतबलौ । दृढबलौ । रात्रिदिवसौ (यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (दूतौ) दूतनिभ्यां दीर्घश्च । उ०३।६०। डु डु उपतापे, यद्वा, डु गतौ—क्त । उपतापकौ । उत्तेजकौ (चरतः) विचरतः (जनान्) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य (तौ) तादृशौ रात्रिदिवसौ (अस्मभ्यम्) (दृशये) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२ ० । दृशिर् प्रेक्षणे—इप्रत्ययः, कित् । दर्शनाय (सूर्याय) सर्वप्रेरकाय परमेश्वराय (पुनः) वारंवारम् (दाताम्) लोट्थे लुङ्, अडभावः । दत्ताम् (असुम्) प्रज्ञाम् (अद्य) इदानीन् (इह) अत्र (भद्रम्) कल्याणम् ॥

सोम॑ एकै॑भ्यः पव॑ते घृत॑मेक॑ उपा॑सते ।

येभ्यो॑ मधु॑ प्र॒धाव॑ति तांश्चि॑देवापि गच्छ॑तात् ॥ १४ ॥

सोमः॑ । एकै॑भ्यः । प॒व॒ते । घृत॑म् । एकै॑ । उ॒प॑ । आ॒स॒ते ॥ येभ्यः॑ ।

मधु॑ । प्र-धाव॑ति । तान् । चि॒त् । ए॒व । अ॒पि । ग॒च्छ॒तात् ॥ १४

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्य (एकैभ्यः) किन्हीं किन्हीं [विद्वानों] को (पवते) मिलता है, (घृतम्) सार पदार्थ को (एके) कोई कोई [विद्वान्] (उप आसते) सेवते हैं । (येभ्यः) जिन [विद्वानों] को (मधु) विज्ञान (प्रधावति) शीघ्र प्राप्त होता है, (तान्) उन [सब महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐश्वर्यवान्, तत्त्ववेत्ता, विज्ञानी पुरुषों को प्राप्त होकर उन्नति करें ॥ १४ ॥

मन्त्र १४-१८ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५४ । १, ४, २, ३, ५ । और मन्त्र १४—१७—ऋग्वेद पाठ से महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

ये चि॑त् पूर्वं॑ ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋ॒तावृ॑धः ।

ऋ॒षीन् तप॑स्वतो यम॑ तपो॒जाँ अपि॑ गच्छ॑तात् ॥ १५ ॥

ये । चि॒त् । पूर्वे॑ । ऋ॒त-सा॑ताः । ऋ॒त-जा॑ताः । ऋ॒त-वृ॑धः ॥

ऋ॒षीन् । तप॑स्वतः । य॒म॒ । त॒पुः-जा॑न् । अ॒पि । ग॒च्छ॒तात् १५

भाषार्थ—(ये) जो (चित्) ही (पूर्वे) पहिले [पूर्ण विद्वान्]

१४—(सोमः) ऐश्वर्यम् (एकैभ्यः) केभ्यश्चिद् विद्वद्भ्यः (पवते) पवतेर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति (घृतम्) सारपदार्थम् (एके) केचिद् विद्वांसः (उपासते) उपभुञ्जते । सेवन्ते (येभ्यः) (मधु) विज्ञानम् (प्रधावति) प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छति (तान्) विदुषः पुरुषान् (चित्) सत्कारे (एव) निश्चयेन (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ । प्राप्नुहि ॥

१५—(ये) विद्वांसः (चित्) एव (पूर्वे) प्रथमश्रेणिस्थाः । पूर्णविद्वांसः

(ऋतसाताः) सत्य धर्म से सेवन किये गये, (ऋतजाताः) सत्य धर्म से प्रसिद्ध हुये और (ऋतावृधः) सत्य धर्म से बढ़ने और बढ़ाने वाले हैं । (यम) हे यम ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी, (तपोजान्) तप से प्रकट हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो महात्मा पूर्ण श्रद्धा से अनुष्ठान करके सत्य वैदिक धर्म का उपदेश करते हैं, और जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के पुण्य से तथा अपने माता पिता के तप से ऋषि पद पाया है, मनुष्य उनके सत्संग से अपनी उन्नति करें ॥ १५ ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ग्युः ।

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥

तपसा । ये । अनाधृष्याः । तपसा । ये । स्वः । युयुः ॥ तपः ।
ये । चक्रिरे । महः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १६

भाषार्थ—(ये) जो [विद्वान्] (तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (अनाधृष्याः) नहीं दबने वाले हैं और (ये) जिन्होंने (तपसा) तप से (स्वः) स्वर्ग [आनन्द पद] (युयुः) पाया है । और (ये) जिन्होंने (तपः) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] को (महः) अपना महत्त्व (चक्रिरे) बनाया है, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार

(ऋतसाताः) षण् संभक्तौ—क्त । जनसनखनां सञ्भक्तोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सत्यधर्मेण सेविताः (ऋतजाताः) सत्यधर्मेण प्रादुर्भूताः प्रसिद्धाः (ऋतावृधः) सत्यधर्मेण वर्धितारो वर्धयितारश्च (ऋषीन्) वेदार्थदर्शिनः पुरुषान् (तपस्वतः) ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनयुक्तान् (यम) हे संयमिन् पुरुष (तपोजान्) तपसा जातान् (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ ॥

१६—(तपसा) ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (ये) महात्मानः (अनाधृष्याः) धर्षितुमशक्याः । दुर्धर्षाः । अहिंसनीयाः (तपसा) (ये) (स्वः) सुखपदम् (युयुः) प्रापुः (तपः) ब्रह्मचर्यसेवनं वेदाध्ययनं च (ये)

से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो महर्षि ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन को अपना महत्त्व समझ कर आनन्द पाते हैं, मनुष्य उन से शिक्षा लेकर ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन से महान् होकर सुखी होवे ॥ १६ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासु ये तनूत्यजः ।

ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

ये । युध्यन्ते । प्र-धनेषु । शूरासः । ये । तनू-त्यजः ॥ ये । वा ।

सहस्र-दक्षिणाः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १७

भाषार्थ—(ये) जो [वीर] (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो (शूरासः) शूर (तनूत्यजः) शरीर का बलिदान करने वाले [वा उपकार का दान करने वाले] हैं । (वा) और (ये) जो (सहस्रदक्षिणाः) सहस्रों प्रकार की दक्षिणा देने वाले हैं, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थ—जैसे शूरवीर पुरुष धर्म युद्ध में अपने को बलिदान करके संसार में शान्ति स्थापित करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को दुष्कर्मियों के दण्ड देने में सदा उद्यत रहना चाहिये ॥ १७ ॥

सहस्रणीयाः कुवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।

ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

(चक्रिरे) कृतवन्तः (महः) स्वमहत्त्वम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

१७—(ये) वीराः (युध्यन्ते) शस्त्राणि संप्रहरन्ति (प्रधनेषु) संग्रामेषु (शूरासः) शूराः पराक्रमिणः (ये) (तनूत्यजः) तनु विस्तारे तन उपकारे च-ऊ + त्यज हानौ दाने च-किप् । शरीराणां त्यक्तारः । उपकारस्य दातारः (ये) (वा) चार्थे (सहस्रदक्षिणाः) सहस्राणि दक्षिणाः प्रतिष्ठापदानि दत्तानि यैस्ते । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

सुहस्र-नीथाः । कवयः । ये । गोपायन्ति । सूर्यम् ॥ ऋषीन् ।
तपस्वतः । यम् । तपः-जान् । अपि । गच्छतात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सहस्रणीथाः) सहस्रों [योधाओं] के नेता
(कवयः) बुद्धिमान् लोग (सूर्यम्) सर्वप्रेरक मनुष्य की (गोपायन्ति) रक्षा
करते हैं । (यम्) हे यम् ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी (तपो-
जान्) तप से उत्पन्न हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छ-
तात्) तू प्राप्त हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बुद्धिबल और कर्म से प्रधान नेता होकर
सर्वहितैषी पुरुष की रक्षा करते हैं, सब लोग उनके अनुकरण से महान् होंगे ॥ १८ ॥

मन्त्रौ १६, २० ॥

पृथिवी देवता ॥ १६ गायत्री ; २० अनुष्टुप् छन्दः ॥

पृथिवीविद्योपदेशः—पृथिवी की विद्या का उपदेश ॥

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।

यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

स्योना । अस्मै । भव । पृथिवि । अनृक्षरा । नि-वेशनी ॥

यच्छ । अस्मै । शर्म । स-प्रथाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये
(स्योना) सुख देने हारी, (अनृक्षरा) बिना कांटे वाली और (निवेशनी)
प्रवेश करने योग्य (भव) हो । और (सप्रथाः) विस्तार वाली तू (अस्मै)
इस [पुरुष] के लिये (शर्म) शरण (यच्छ) दे ॥ १९ ॥

१८—(सहस्रणीथाः) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः कथन् । उ० २ । २ ।
सहस्र + णीञ् प्रापणे - कथन् । सहस्राणां योद्धृणां नेतारः (कवयः) मेधा-
विनः (ये) (गोपायन्ति) रक्षन्ति (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं मनुष्यम् । अन्यत्
पूर्ववत्—म० १५ ॥

१९—(स्योना) सुखप्रदा (अस्मै) पुरुषाय (भव) (पृथिवि) हे भूमे
(अनृक्षरा) अकण्टका (निवेशनी) प्रवेशयोग्या (यच्छ) देहि (शर्म)
शरणम् (सप्रथाः) प्रथसा विस्तारेण सहिता त्वम् ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी विद्या में निपुण होकर अनेक रत्नों और पदार्थों को प्राप्त करके निर्विघ्नता से आनन्द भोगे ॥ १६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । २२ । १५ तथा यजु० ३५ । २१ ॥

असंवाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।

स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥ (८)

असम्-बाधे । पृथिव्याः । उरौ । लोके । नि । धीयस्व ॥

स्वधाः । याः । चकृषे । जीवन् । ताः । ते । सन्तु । मधु-श्चुतः ॥ २० ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंवाधे) बाधा रहित, (उरौ) विस्तीर्ण (लोके) स्थान में (नि) दृढ़ता से (धीयस्व) तू ठहराया गया हो । (याः) जिन (स्वधाः) आत्मधारण शक्तियों को (जीवन्) जीवते हुये (चकृषे) तू ने किया है, (ताः) वे [सब शक्तियां] (ते) तेरे लिये (मधुश्चुतः) ज्ञान की बरसाने वाली (सन्तु) होवें ॥ २० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों को हटाकर दृढ़ता से पृथिवी पर श्रेष्ठ पदार्थ खोजते जाते हैं, वे आत्मविश्वासी सदा सुख पाते हैं ॥ २० ॥

मन्त्राः २१—३० ॥

पितरो देवताः ॥ २१, २६ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २२, २३, २५, ३० अनुष्टुप् ; २४ आर्षी गायत्री ; २७, २८ त्रिष्टुप् ; २६ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

मनुष्याणां पितॄन् प्रति कर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों का पितरों के साथ कर्त्तव्य का उपदेश ॥

२०—(असम्बाधे ; संवाधारहिते । निर्विघ्ने (पृथिव्याः) भूमेः (उरौ) विस्तृते (लोके) स्थाने (नि) निश्चयेन (धीयस्व) दधातेः कर्मणि यक् । धारितो भव (स्वधाः) स्वधारणशक्तीः (याः) (चकृषे) त्वं कृतवानसि (जीवन्) प्राणान् धारयन् सन् (ताः) शक्तयः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (मधुश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे—क्लिप् । ज्ञानस्य क्षारयिष्यो वर्षयिष्यः ॥

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहान् उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु
शुग्माः ॥ २१ ॥

ह्वयामि । ते । मनसा । मनः । इह । इमान् । गृहान् । उप ।
जुजुषाणः । आ । इहि ॥ सम् । गच्छस्व । पितृ-भिः ।
सम् । यमेन । स्योनाः । त्वा । वाताः । उप । वान्तु । शुग्माः २१

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे (मनः) मन को (मनसा)
[अपने] मन के साथ (इह) यहां (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (इमान्) इन
(गृहान्) घरों [घर वालों] को (उप) आदर से (जुजुषाणः) प्रसन्न
करता हुआ तू (आ इहि) आ । (पितृभिः) पितरों [रक्षक महात्माओं] से
और (यमेन) यम [न्यायकारी परमात्मा] से (सं सं गच्छस्व) तू भले
प्रकार मिल, (स्योनाः) सुखदायक और (शुग्माः) शक्ति वाले (वाताः)
सेवनीय पदार्थ (त्वा) तुझ को (उप) यथावत् (वान्तु) प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों को आदर पूर्वक बुलावे
और उनसे उचित शिक्षा और परमेश्वर ज्ञान प्राप्त करके प्रयत्न के साथ उत्तम
उत्तम पदार्थों द्वारा आनन्द पावें ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का तीसरा पाद ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ ॥

२१—(ह्वयामि) आह्वयामि (ते) तव (मनसा) स्वान्तःकरणेन (मनः)
अन्तःकरणम् (इह) अत्र (इमान्) दृश्यमानान् (गृहान्) गृहस्थान्
(उप) आदरेण (जुजुषाणः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—कानच् । प्रीयमाणः (एहि)
आगच्छ (सं सं गच्छस्व) अतिशयेन सङ्गतो भव । पितृभिः) पालकमहा-
त्मभिः सह (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना सह (स्योनाः) सुखप्रदाः (त्वा)
त्वाम् (वाताः) वात गतिसुखसेवनेषु—अच् । सेवनीयाः । पदार्थाः (उप)
यथावत् (वान्तु) प्राप्नुवन्तु (शुग्माः) युक्तिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ ।
शुक्ल शक्तौ—मक्, कस्य गः । शक्तिमन्तः ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।

अजेन कृणवन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥

उत् । त्वा । वहन्तु । मरुतः । उद-वाहाः । उद-प्रुतः ॥

अजेन । कृणवन्तः । शीतम् । वर्षेण । उक्षन्तु । बाल् । इति २२

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (उदवाहाः) जल पहुंचाने वाले, (उदप्रुतः) जल में चलने वाले (मरुतः) पवन रूप विद्वान् लोग (त्वा) तुझे (उत् वहन्तु) ऊंचा पहुंचावे । और (अजेन) अजन्मे परमात्मा के साथ (वर्षेण) वृष्टि से (शीतम्) शीतलता (कृणवन्तः) करते हुये वे [तुझ को] (उक्षन्तु) बढ़ावे—(बाल् इति) यही बल है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैस पवन अपने भक्तों से मेघों को चला वृष्टि करके ताप हटाकर संसार को सुख पहुंचाता है, वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान मिटा शान्ति के साथ मनुष्यों को ऊंचा करके शक्तिमान् करें ॥ २२ ॥

उदहमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितृरूपं द्रव ॥ २३ ॥

उत् । अहम् । आयुः । आयुषे । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे ॥

स्वान् । गच्छतु । ते । मनः । अध । पितृन् । उप । द्रव २३

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (आयुः) [तेरे] जीवन को (आयुषे) [अपने] जीवन के लिये, (क्रत्वे) बुद्धि वा कर्म के लिये, (दक्षाय) बल के

२२—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (वहन्तु) प्रापयन्तु (मरुतः) मरुतो ऋत्विङ्नाम—निघ० ३ । १८ । पवना इव विद्वांसः (उदवाहाः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । उदक+वह प्राणो-अण्, उदकस्य उदभावः । जलस्य वोढारः प्रापयितारः (उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—किप् । जले गन्तारः (अजेन) अजन्मना परमात्मना (कृणवन्तः) कुर्वन्तः (शीतम्) शैत्यम् (वर्षेण) वृष्टिजलेन (उक्षन्तु) उक्ष्ण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ६ । वर्धयन्तु (बाल्) क्विब् वचिप्रच्छिश्निष्पुद्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । उ० २ । ५७ । बल दाने जीवने वधे च—किप्, दीर्घश्च । बलम् (इति) एवम् ॥

२३—(उत्) उत्तमतया (अहम्) आहूतवानस्मि (आयुः) तव जीव-

लिये और (जीवसे) प्राण धारण [पराक्रम] के लिये (उत्) उत्तमता से (अहम्) मैं ने बुलाया है । (ते) तेरा (मनः) मन (स्वान्) अपने लोगों में (गच्छतु) जावे, (अध्र) और तू (पितृन्) पितरों [रत्नक महात्माओं] को (उप) आदर से (द्रव) दौड़ जा ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से अपना आचरण, अपना ज्ञान, अपना शारीरिक और आत्मिक बल ठीक रख कर माता पिता आदि और सब महात्माओं के सदा कृतज्ञ रहें ॥ २३ ॥

मा ते मने॑ मासे॑र्माङ्गानां॑ मा रस॑स्य ते ।

मा ते॑ हास्त॑ तुन्व॑ः किं च॑ने ह ॥ २४ ॥

मा । ते । मनः॑ । मा । असोः॑ । मा । अङ्गानाम् । मा । रस॑स्य ।

ते ॥ मा । ते । हास्त॑ । तुन्वः॑ । किम् । च॑न । इह ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मा) न तौ (ते) तेरा (मनः) मन, (मा) न (ते) तेरे (असोः) प्राण का (मा) न (अङ्गानाम्) अङ्गों का, (मा) न (रसस्य) रस [वीर्य] का, (मा) न (ते) तेरे (तुन्वः) शरीर का (किं चन) कुछ भी (इह) यहां पर से (हास्त) चला जावे ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से सुशिक्षित होकर प्रयत्न करे कि उसकी शारीरिक और आत्मिक अवस्था सदा स्वस्थ रहे ॥ २४ ॥

नम् (आयुषे) स्वजीवनहिताय (क्रत्वे) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १, प्रज्ञानाम ३ । ६ । क्रतवे । प्रज्ञायै, कर्मणे (दत्ताय) बलाय (जीवसे) प्राणधारणाय । पराक्रमाय (स्वान्) स्वकीयान् । ज्ञातीन् (गच्छतु) प्राप्नोतु (ते) तव (मनः) चित्तम् (अध्र) अपि च (पितृन्) पालकान् महात्मनः (उप) आदरं (द्रव) शीघ्रं गच्छ ॥

२४—(मा) निषेधे (ते) तव (मनः) चित्तम् (मा) (असोः) प्राणस्य (मा) (अङ्गानाम्) अवयवानाम् (मा) (रसस्य) वीर्यस्य (ते) (मा हास्त) ओ हाडू गतौ—लुङ् । मा गच्छेत् (ते) (तुन्वः) शरीरस्य (किं चन) किमपि (इह) अत्र । अस्माकं मधयात् ॥

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्टु मा देवी पृथिवी मही ।

लोकं पितॄषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

मा । त्वा । वृक्षः । सम् । बाधिष्टु । मा । देवी । पृथिवी ।
मही ॥ लोकम् । पितॄषु । वित्त्वा । एधस्व । यमराज-सु ॥ २५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझे (मा) न तौ (वृक्षः) सेवनीय संसार और (मा) न (देवी) चलने वाली (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी (सं बाधिष्टु) कुछ बाधा देवे । (यमराजसु) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा मानने वाले (पितॄषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (लोकम्) स्थान (वित्त्वा) पाकर (एधस्व) तू बढ़ ॥ २५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य संसार में विघ्नों को हटा, रत्नों की खानि पृथिवी से उपकार लेकर बड़े लोगों में पद पाकर बढ़ती करें ॥ २५ ॥

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते सुगत्यं पितरः सनीडा घ्रासाद् घ्रासं पुनरा वेशयन्तुर्द
यत् । ते । अङ्गम् । अति-हितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः ।
यः । ऊं इति । वा । ते । परा-इतः ॥ तत् । ते । सुम्-गत्यं ।
पितरः । स-नीडाः । घ्रासात् । घ्रासम् । पुनः । आ । वेशयन्तुर्द

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (अङ्गम्) [शारी-
रिक वा आत्मिक] अङ्ग (पराचैः) उलटा होकर (अतिहितम्) हट गया है,

२५—(मा बाधिष्टु) बाधु विलोडने-लुङ् । मा पीडयेत् (त्वा) (वृक्षः)
वृक्ष वरणे-कप्रत्ययः । सेवनीयः । संसारः (सम्) सम्यक् (मा) (देवी) दिवु
गतौ-अच् । गतिमती (पृथिवी) (मही) विशाला (लोकम्) स्थानम् (पितॄषु)
पालकमहात्मसु (वित्त्वा) लब्ध्वा (एधस्व) वर्धस्व (यमराजसु) यमो
न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तेषु ॥

२६—(यत्) (ते) तव (अङ्गम्) अवयवः (पराचैः) पराङ्मुखम् ।
प्रतिकूलम् (अतिहितम्) अतीत्य धृतम् (अपानः) प्रश्वासः (प्राणः) श्वासः

(उ) और (ते) तेरा (यः) (अपानः) अपान [प्रश्वास] (वा) अथवा (प्राणः) प्राण [श्वास] (परेतः) विचल गया है । (सनीडाः) समान घर वाले (पितरः) पितर लोग [रक्षक महात्मा] (संगत्य) मिलकर (ते) तेरी (तत्) उस [हानि] को (पुनः) फिर (आ वेशयन्तु) भर देवे, [जैसे] (घासात्) घास से (घासम्) घास को [बांध देते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक दोषों को समझ कर विद्वानों की संमति से उनकी निवृत्ति करे ॥ २६ ॥

अपे॑मं जी॒वा अ॑रु॒धन् गृ॒हेभ्य॑स्तं निर्व॑हत॒ परि॑ ग्रामा॒दितः॑ ।
मृ॒त्युर्य॒मस्या॑सीद् दू॒तः प्र॑चे॒ता असू॑न् पि॒तृभ्यो॑ गमु॒यां च॑कार २७
अप॑ । इ॒मम् । जी॒वाः । अ॒रुध॑न् । गृ॒हेभ्यः॑ । तम् । निः ।
व॒हत॑ । परि॑ । ग्रामा॒त् । इ॒तः ॥ मृ॒त्युः । य॒मस्य॑ । आसी॑त् ।
दू॒तः । प्र-चे॑ताः । असू॑न् । पि॒तृ-भ्यः॑ । ग॒मुयाम् । च॒कार ॥ २७

भाषार्थ—(इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (जीवाः) प्राणधारी [आचार्य आदि] लोगों ने (गृहेभ्यः) घरों के हित के लिये (अप) आनन्द से (अरुधन्) रोका था, (तम्) उस [ब्रह्मचारी] को (इतः) इस (ग्रामात्) ग्राम [विद्यालय] से (परि) सब ओर को (निः) निश्चय करके (वहत) तुम ले जाओ । (मृत्युः) मृत्यु [आत्मत्याग] (यमस्य) संयमी पुरुष का

(यः) (उ) चार्थे (वा) अथवा (ते) तव (परेतः) दूरे गतः (तत्) तत्सर्वम् (ते) तव (संगत्य) एकीभूय (पितरः) रक्षका महात्मानः (सनीडाः) समानगृहाः (घासात्) तृणात् (घासम्) तृणं यथा (पुनः) (आ वेशयन्तु) प्रवेशयन्तु ॥

२७—(अप) आनन्दे (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (जीवाः) प्राणधारकाः । महात्मानः (अरुधन्) अवरोधेन धारितवन्तः (गृहेभ्यः) गृहाणां हिताय (तम्) ब्रह्मचारिणम् (निः) निश्चयेन (वहत) नयत (परि) परितः (ग्रामात्) समूहात् । विद्यालयमध्यात् (इतः) अस्मात् (मृत्युः) प्राणत्यागः । आत्मत्यागः

(दूतः) उत्तेजक, (प्रचेतः) ज्ञान करने वाला (आसीत्) हुआ है, उसने (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (असून्) प्राण (गमायाम् चकार) भेजे हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—आचार्य लोग ब्रह्मचारियों को विद्यालय में उत्तम शिक्षा देने तक रखें और विद्या समाप्ति पर उन को उपदेश करें कि वे परिश्रम के साथ आत्म त्याग करके अर्थात् आपा छोड़ कर संसार का उपकार करें, जैसे कि महात्मा लोग आपा छोड़कर विद्या द्वारा आत्मबल प्राप्त करके उपकारी होते हैं ॥ २७ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति । परा-पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठानस्मात् प्र धमाति युजात् ॥२८॥
ये । दस्यवः । पितृषु । प्र-विष्टाः । ज्ञाति-मुखाः । अहुत-
अदः । चरन्ति ॥ परा-पुरः । नि-पुरः । ये । भरन्ति । अग्निः ।
तान् । अस्मात् । प्र । धमाति । युजात् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ज्ञातिमुखाः) बन्धुओं के समान मुख वाले [छल से हित बोलने वाले], (अहुतादः) बिना दिया हुआ खाने वाले (दस्यवः) डाकू लोग (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होकर (चरन्ति) विचरते हैं । और (ये) जो [दुराचारी] (परापुरः)

(यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (आसीत्) अभवत् (दूतः) उच्चापकः । उत्ते-
जकः (प्रचेताः) प्रकृष्टानि चेतांसि यस्य सः । प्रचेतयिता । प्रज्ञापयिता
(असून्) प्राणान् (पितृभ्यः) पालकमहात्मभ्यः (गमयांचकार) प्रेषयामास ॥

२८--(ये) (दस्यवः) महासाहसिकाश्चौरादयः (पितृषु) पालक—
महात्मसु (प्रविष्टाः) (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातीनां मुखं वचनमिव वचनं येषां ते
(अहुतादः) अहुतस्य अदत्तस्य भक्षकाः (चरन्ति) विचरन्ति (परापुरः)
परा + पृ पालनपूरणयोः—किप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १।१०२ । इत्युत्त्वम् ।
परा प्रातिकूल्येन पालनस्वभावान् (निपुरः) नि + पुर अग्रगतौ—किप् ।

उलटेपन से पालन स्वभावों को और (निपुरः) नीचपन से अगुआ होने की क्रियाओं को (भरन्ति) धारण करते हैं, (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (तान्) उन [दुष्टों] को (अस्मात्) इस (यज्ञात्) पूजा स्थान से (प्र धमाति) दूर भेजे ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऊपर से मीठा बोलकर दूसरों के पदार्थों को खा जावे और शिष्ट पुरुषों में मिल कर छल करें । विद्वान् राजा आदि प्रधान पुरुष उन अन्यायियों को दण्ड देकर निकाल देंगे ॥ २८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—२ । ३० ॥

सं विशन्तिवृह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्तु
आयुः । तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योक् जीवन्तः श्रदः
पुरुचीः ॥ २८ ॥

सम् । विशन्तु । इह । पितरः । स्वाः । नः । स्योनम् ।
कृण्वन्तः । प्र-तिरन्तः । आयुः ॥ तेभ्यः । शकेम् । हविषा ।
नक्षमाणाः । ज्योक् । जीवन्तः । श्रदः । पुरुचीः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (स्योनम्) सुख (कृण्वन्तः) करते हुये और (आयुः) जीवन (प्रतिरन्तः) बढ़ाते हुये (पितरः) रक्षा करने वाले (स्वाः) बान्धव लोग (इह) यहां (सम्) मिलकर (विशन्तु) प्रवेश करें । (हविषा) भक्ति के साथ (नक्षमाणाः) चलते हुये और (ज्योक्) बहुत काल तक (पुरुचीः) अनेक (श्रदः) वर्षों तक (जीवन्तः) जीवते हुये हम लोग (तेभ्यः) उन [बान्धवों] के लिये (शकेम) समर्थ होवें ॥ २८ ॥

निकृष्टभावेन अग्रगमनक्रियाः (ये) (भरन्ति) धरन्ति (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (तान्) दुष्टान् (अस्मात्) (प्रधमाति) धमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ ; वधकर्मा २ । १६ । बहिर्गमयेत् (यज्ञात्) पूजास्थानात् ॥

२८—(सम्) संगत्य (विशन्तु) प्रविशन्तु (इह) अस्मासु (पितरः) पालकाः (स्वाः) ज्ञातयः । बान्धवाः (नः) अस्मभ्यम् (स्योनम्) सुखम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (प्रतिरन्तः) वर्धयन्तः (आयुः) जीवनम् (तेभ्यः) स्वेभ्यः (शकेम) शक्ताः समर्था भवेम सेवितुम् (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (नक्षमाणाः) गच्छन्तः (ज्योक्) चिरकालम् (जीवन्तः) प्राणान् धारयन्तः (श्रदः) संवत्सरान् (पुरुचीः) पुरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—किन् । बह्वीः ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने माता पिता आदि के प्रयत्न और आशीर्वाद से उन्नति करके और कीर्ति बढ़ा कर उनकी सेवा करते रहें ॥ २६ ॥

यां ते धेनुं निपृणामि यमुं ते क्षीर ओदनम् ।

तेना जनस्यासौ भर्ता योऽत्रासुदजीवनः ॥ ३० ॥ (८)

याम् । ते । धेनुम् । नि-पृणामि । यम् । ऊ-इति । ते । क्षीरे ।
ओदनम् ॥ तेन । जनस्य । असुः । भर्ता । यः । अत्र ।
असत् । अजीवनः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—[हे महात्मन्] (ते) तेरे लिये (याम्) जिस (धेनुम्)
दुधैल गौ को (उ) और (ते) तेरे लिये (यम् ओदनम्) जिस भात को
(क्षीरे) दूध में (निपृणामि) मैं रखता हूं । (तेन) उसी [कारण] से तू
(जनस्य) उस मनुष्य का (भर्ता) पोषक (असुः) होवे, (यः) जो
[मनुष्य] (अत्र) यहां (अजीवनः) निर्जीव [बिना जीविका, निर्बल]
(असत्) होवे ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुग्ध अन्न आदि से विद्वान् महात्माओं की सेवा
करते हैं, वे पुरुषार्थी अपना जीवन निर्विघ्न बिताते हैं ॥ ३० ॥

मन्त्राः ३१—३३ ॥

मन्त्रः ३१ प्रजापतिः ; ३२ यमः ; ३३ सरण्यूर्देवता ॥ ३१ निचृत् त्रिष्टुप् ;
३२, ३३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अश्वावतीं प्र तरु या सुशेवाक्षार्कं वा प्रतुरं नवीयः । यस्त्वा
जघान् वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागु धैर्यम् ॥३१॥

३०—(याम्) (ते) तुभ्यम् (धेनुम्) दोग्धीं गाम् (निपृणामि) पृ
पालनपूरणयोः । नितरां पालयामि । धरामि (यम्) (उ) चार्थे (क्षीरे)
दुग्धे (ओदनम्) भक्तम् । स्विन्नान्नम् (तेन) कारणेन (जनस्य) तस्य
पुरुषस्य (असुः) भवेः (भर्ता) पोषकः (यः) (अत्र) (असत्) भवेत्
(अजीवनः) निर्जीवकः । निर्बलः ॥

अश्व-वतीम् । प्र । तुर । या । सु-शेवा । ऋक्षाकम् । वा ।
प्र-तरम् । नवीयः ॥ यः । त्वा । जघान । वध्यः । सः ।
अस्तु । मा । सः । अन्यत् । विदुत् । भाग-धेयम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (अश्वावतीम्) घोड़ों वाली [शक्ति]
को (प्र तर) बढ़ा, (या) जो (सुशेवा) बड़े सुख देने वाली है, (वा)
निश्चय करके [आगे] (ऋक्षाकम्) हिंसा मिटाने वाला (प्रतरम्) अधिक
उत्तम (नवीयः) अधिक नवीन [स्थान] है। और (यः) जिस [अत्या
चारी] ने (त्वा) तुझ [सदाचारी] को (जघान) मारा है [दुखाया है],
(सः) वह (वध्यः) बध्य [मार डालने योग्य] (अस्तु) होवे, (सः) वह
(अन्यत्) दूसरा (भागधेयम्) भाग (मा विदत्) न पावे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—संसार में मनुष्य शीघ्रगामी होकर आगे उत्तम उत्तम पद
पाने का प्रयत्न करे और सब प्रकार के विघ्नों को हटाता रहे ॥ ३१ ॥

युमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
युमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानुन्वाततान ॥ ३२ ॥
युमः । परः । अवरः । विवस्वान् । ततः । परम् । न । अति ।
पश्यामि । किम् । चन ॥ युमे । अध्वरः । अधि । मे ।
नि-विष्टः । भुवः । विवस्वान् । अनु-आततान ॥ ३२ ॥

३१—(अश्वावतीम्) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय० । पा० ६ । ३ । १३१ ।
इति मता दीर्घः । अश्वक्रियायुक्तां शक्तिम् (प्र तर) वर्धय (या) शक्तिः
(सुशेवा) सुसुखा (ऋक्षाकम्) ऋक्ष हिंसायाम्-अच्, टाप् + कष वधे-ड ।
हिंसानाशकम् (वा) अवधारणे (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (नवीयः) नवीनतरं
स्थानम् (यः) दुराचारी (त्वा) त्वां सदाचारिणम् (जघान) हतवान्
दुःखं प्रापितवान् (वध्यः) वधाहः (सः) दुराचारी (अस्तु) (मा विदत्)
विदुत् लाभे-लुङ् । मा लभताम् (सः) (अन्यत्) बध्नाद् भिन्नम् (भागधेयम्)
भागम् ॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशयय (यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूर और (अवरः) समीप है, (ततः) उस से (परम्) बड़ा (किं चन) किसी वस्तु को भी (अति) उल्लंघन करके (न पश्यामि) नहीं देखता हूं । (यमे) न्यायकारी परमात्मा में (अध्वरः) हिंसा रहित व्यवहार (मे) मेरे लिये (अधि) सर्वथा (निविष्टः) स्थापित है, (विवस्वान्) प्रकाशमय परमात्मा ने (भुवः) सत्ताओं को (अन्वाततान) निरन्तर सब ओर फैलाया है ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता है, उस से बड़ा संसार में कुछ भी नहीं है, उसी ने सब लोकों को रचा है, तुम उसी की उपासना से अपनी उन्नति करो ॥ ३२ ॥

मन्त्र ३२ और ३३ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

अपा॑गूह॒न्मृ॒तां म॒र्त्यै॑भ्यः कृ॒त्वा स॒व॑र्णामिदधुर्वि॒व॑स्वते ।
उ॒ता॒श्वि॒ना॒वभ॑रद् यत् तदासीदज॑हाद् द्वा मि॒थु॒ना स॑र॒ण्यूः ॥३३॥
अप॑ । अ॒गू॒हुन् । अ॒मृ॒ताम् । म॒र्त्यै॑भ्यः । कृ॒त्वा । स-व॑र्णाम् ।
अ॒द॒धुः । वि॒व॑स्वते ॥ उ॒त । अ॒श्वि॒नौ । अ॒भ॒रत् । यत् । तत् ।
आसी॑त् । अज॑हात् । ज॒इति॑ । द्वा । मि॒थु॒ना । स॒र॒ण्यूः ३३॥

भाषार्थ—(अमृताम्) अमर [नित्य प्रकृति, जगत् सामग्री] को

३२—(यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूरस्थः (अवरः) समीपस्थः (विवस्वान्) प्रकाशमयः (ततः) तस्मात् परमेश्वरात् (परम्) उत्कृष्टम् (न) निषेधे (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (पश्यामि) अवलोकयामि (यमे) न्यायकारिणि परमेश्वरे (अध्वरः) हिंसारहितो व्यवहारः (अधि) सर्वथा (मे) मह्यम् (निविष्टः) स्थापितः (भुवः) भू सत्तायाम्—किप् । सर्वाः सत्ताः । लोकान् (विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (अन्वाततान) निरन्तरं समन्ताद् विस्तारितवान् ॥

३३—(अप) आनन्दे (अगूहन्) गुह्य सवरणे-लङ् । अन्तर्हितां कृत-

(अप) सुख से (अगूहन्) उन [ईश्वर नियमों] ने गुप्त रक्खा और (मर्त्येभ्यः) मरण धर्मी [मनुष्य आदि प्राणियों] के हित के लिये [उसे] (सवर्णाम्) समान अङ्गीकार करने योग्य (कृत्वा) करके (विवस्वते) प्रकाशमय परमात्मा [की आज्ञा मानने] के लिये (अदधुः) उन्होंने ने पुष्ट किया । (उत) और (यत्) जो कुछ [जगत्] (आसीत्) था, (तत्) उस [जगत्] ने (अश्विनौ) व्यापक प्राण और अपान को (अभरत्) धारण किया, (उ) और (सरण्यूः) व्यापक [प्रकृति, जगत् सामग्री] ने (द्वा) दो (मिथुना) जोड़ियाओं [स्त्री पुरुष] को (अजहात्) त्यागा [उत्पन्न किया] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से प्रकृति अर्थात् जगत् सामग्री प्रलय समय में अदृश्य रहती और सृष्टि काल में सर्वोपकारी होकर प्रकट होती है, तब यह जगत् प्राण और अपान द्वारा चेष्टा करता है और स्त्री पुरुष आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । २ ॥

मन्त्रौ ३४, ३५ ॥

पितरो देवताः । ३४ अनुष्टुप् ; ३५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरोंके सत्कार का उपदेश ॥

ये निखाता ये परीप्ता ये दुग्धा ये चोद्धिताः ।

सर्विस्तानंग् आ वह पितृन् हुविषे अत्तवे ॥ ३४ ॥

ये । नि-खाताः । ये । परी-उप्ताः । ये । दुग्धः । ये । च ।

वन्तः परमात्मनियमाः प्रलये (अमृताम्) नित्यां प्रकृतिम् । जगत्सामग्रीम् (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मणां मनुष्यादिप्राणिनां हिताय (सवर्णाम्) समानवर्णनीयां स्वीकरणीयाम् (अदधुः) आधारयन् परमेश्वरनियमाः (विवस्वते) प्रकाशमयाय । परमात्माज्ञापालनाय (उत) अपि च (अश्विनौ) प्राणापानौ (अभरत्) अधरत् (यत्) जगत् (तत्) सर्वम् (आसीत्) (अजहात्) ओ हाक् त्यागे-लड् । अत्यजत् । असृजत् (उ) चार्थे (द्वा) द्वौ (मिथुना) मिथुनौ । स्त्रीपुंसात्मकौ यमलौ (सरण्यूः) सृयुवचिभ्यांऽन्युजागूजक्रुचः । उ० ३ । ८१ । सृ गतौ—अन्युच्, ऊङ् स्त्रियाम् । व्यापका प्रकृतिः । जगत्सामग्री ॥

उद्धिताः ॥ सर्वान् । तान् । अग्ने । आ । वहु । पितॄन् ।
हविषे । अत्तवे ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष [ब्रह्मचर्य आदि सदाचार में] (निखाताः)
दृढ़ गड़े हुये, (ये) जो (परोप्ताः) उत्तमता से बीज बोये गये, (ये) जो
(दग्धाः) तपाये गये [वा चमकते हुये] (च) और (ये) जो (उद्धिताः)
ऊंचे उठाये गये हैं । (अग्ने) हे विद्वान् ! (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्)
पितरों [पिता आदि ज्ञानियों] को (हविषे) ग्रहण योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के
लिये (आ वह) तू ले आ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो पुरुष दृढ़ स्वभाव, ब्रह्मचर्य सेवी,
सुशिक्षित, परिश्रमी महाविद्वान् हों, उनका भोजन आदि से सदा सत्कार
करें ॥ ३४ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मायन्ते ।
त्वं तान् वेत्स्य यदि ते जातवेदः स्वधया युजं स्वधितिं
जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

ये । अग्नि-दग्धाः । ये । अनग्नि-दग्धाः । मध्ये । दिवः ।
स्वधया । मादयन्ते ॥ त्वम् । तान् । वेत्स्य । यदि । ते ।
जात-वेदः । स्वधया । युजम् । स्व-धितिस् । जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि जलाने वाले [हवन आदि

३४—(ये) विद्वांसः (निखाताः) खनु अवदारणे-क्त । ब्रह्मचर्यादि-
सदाचारे दृढतया स्थिताः (ये) (परोप्ताः) परा + दु वप बीजसन्ताने-क्त ।
उत्तमतया बीजवत् स्थापिताः (ये) (दग्धाः) दह दीप्तौ भस्मीकरणे च-क्त ।
ब्रह्मचर्यादिना तप्ताः । प्रदीप्यमानाः (ये) (च) (उद्धिताः) उत् + दधाते-क्त ।
ऊर्ध्वं धृताः (सर्वान्) (तान्) (अग्ने) हे विद्वन् (आ वह) आनय
(पितॄन्) पित्रादिरक्षकान् विद्वत्पुरुषान् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । हविः ।
ग्राह्यं पदार्थम् (अत्तवे) अद् भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः । अत्तुं भक्षितुम् ॥

३५—(ये) पुरुषाः (अग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयगार्हापत्यदाक्षि-

करने वाले गृहस्थ आदि] और (ये) जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि को नहीं जलाने वाले पुरुष [आहवनीय आदि भौतिक यज्ञ अग्नि छोड़ देने वाले संन्यासी] (दिवः) ज्ञान के (मध्ये) बीच (स्वधया) आत्मधारण शक्ति से (मादयन्ते) आनन्द पाते हैं । (जातवेदः) हे पूर्ण ज्ञानी पुरुष ! (त्वम्) तू (तान्) उन को (यदि) जो (वेत्थ) जानता है, (ते) वे (स्वधया) अन्न के साथ (स्वधितिम्) स्वधारण शक्ति वाले (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] का (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि हवन आदि यज्ञ करने वाले ब्रह्मचारी, गृहस्थ लोगों को और भौतिक अग्नि के यज्ञ को छोड़कर ज्ञान यज्ञ करने वाले संन्यासी विद्वानों को यथाविधि सत्कार से बुलावें और उन से श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १४, १३ और यजुर्वेद—१६ । ७, ६७ ॥

भगवान् मनु ने इस आशय को इस प्रकार वर्णन किया है ॥ अध्याय ६ श्लोक ३६, ३८ ॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ १ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रवजेद् गृहात् ॥ २ ॥

विधि पूर्वक वेदों को पढ़कर और धर्म से सन्तानों को उत्पन्न कर के और यथाशक्ति यज्ञों को कर के मन को मोक्ष [अर्थात् संन्यासाश्रम] में

णात्या दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ब्रह्मचारिणो गृहस्थाश्च (ये) (अनग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयादयो न दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ज्ञानाग्निप्रदीपकाः संन्यासिनः (मध्ये) (दिवः) दिवु गतौ—डिवि । ज्ञानस्य (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मादयन्ते) दृश्यन्ति (त्वम्) (तान्) पूर्वाक्तान् (वेत्थ) जानासि (यदि) (ते) पूर्वाक्ताः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान विद्वन् (स्वधया) अग्नेन—निघ० २ । ७ (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (स्वधितिम्) धि धारणे—क्तिन् । स्वधारण-शक्तियुक्तम् (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

लगावे ॥ १ ॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को कर के आत्मा में [आहवनीय, गार्हापत्य और दाक्षिणात्य] अग्नियों को समारो-
पित करके ब्राह्मण, वेद और ईश्वर जानने वाला पुरुष, गृहधर्म से संन्यास
लेवे ॥ २ ॥

मन्त्रः ३६ ॥

अग्निर्देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

बलवर्धनोपदेशः—बल बढ़ाने का उपदेश ॥

शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वम् १ तपः ।

वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्हरः ॥ ३६ ॥

शम् । तप । मा । अति । तपः । अग्ने । मा । तन्वम् । तपः ॥

वनेषु । शुष्मः । अस्तु । ते । पृथिव्याम् । अस्तु । यत् । हरः ३६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! तू (शम्) शान्ति के लिये (तप) तप
कर, [किसी को] (अति) अत्याचार से (मा तपः) मत तपा और [किसी
के] (तन्वम्) शरीर को [अत्याचार से] (मा तपः) मत तपा [मत सता] ।
वनेषु) सेवनीय व्यवहारों में (ते) तेरा (शुष्मः) बल (अस्तु) होवे
और (यत्) जो (हरः) [तेरा] तेज है, वह (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अस्तु)
होवे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष संसार में शान्ति फैलाने के लिये शम दम
आदि तप करे और किसी को किसी प्रकार न सतावे । इस विधि से बल बढ़ा
उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके पृथिवी पर प्रतापी होवे ॥ ३६ ॥

मन्त्रः ३७ ॥

यमो देवता । विराड् जगती छन्दः ॥

३६—(शम्) शान्तये (तप) शमदमादितपः कुरु (अति) अत्याचारेण
(मा तपः) मा तापय । मा दुःखय कमपि (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (तन्वम्)
कस्यचिदपि शरीरम् (मा तपः) मा दुःखय (वनेषु) वन सेवने—अच् । सेवनीय-
व्यवहारेषु (शुष्मः) बलम् (अस्तु) (ते) तव (पृथिव्याम्) भूमौ (अस्तु)
(यत्) (हरः) हरौ हरतेः, ज्योतिर्हर उच्यते—निरु० ४।१६। तेजः ॥

परमात्माज्ञापानोपदेशः—परमात्मा की आज्ञा पालने का उपदेश ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूद्दिह ।
यमश्चि कित्वान् प्रत्येतदाहु ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥३७॥

ददामि । अस्मै । अव-सानम् । एतत् । यः । एषः । आ-
अगन् । मम । च । इत् । अभूत् । इह ॥ यमः । चिकित्वान् ।
प्रति । एतत् । आहु । मम । एषः । राये । उप । तिष्ठताम् ।
इह ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(एतद्) यह (अवसानम्) विभ्राम (अस्मै) उस पुरुष को
(ददामि) मैं देता हूं, (यः एषः) जो यह (आ-अगन्) आया है, (च) और
(मम इत्) मेरा ही (इह) यहां (अभूत्) हुआ है, (मम) मेरा (एषः) यह
पुरुष (राये) धन के लिये (इह) यहां पर (उप तिष्ठताम्) सेवा करे—(चि—
कित्वान्) ज्ञानवान् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (एतत्) यह (प्रति)
प्रत्यक्ष (आहु) कहता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह परमात्मा का बचन है कि जो पुरुष संसार के बीच उत्तम
शरीर और ज्ञान पाकर मेरी शरण आते हैं, वे मेरे प्रीतिपात्र होकर लोक
और परलोक में मोक्षरूप धन प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४५ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ३८, ३९, ४१ गायत्री ; ४०, ४२-४४ भुरिग् गायत्री ;
४५ विराडनुष्टुप् ॥

मोक्षाय प्रयत्नोपदेशः—मोक्ष के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

३७—(ददामि) प्रयच्छामि (अस्मै) पुरुषाय (अवसानम्) विरामम्
विभ्रामम् (एतत्) प्रत्यक्षम् (यः) पुरुषः (एषः) विद्यमानः (आगन्) आग-
मत् (मम) मत्सम्बन्धी । मदुपासकः (च) (इत्) एव (अभूत्) (इह)
अत्र संसारे (यमः) न्यायकारी परमात्मा (चिकित्वान्) सर्वं जानन् (प्रति)
प्रत्यक्षम् (एतत्) वाक्यम् (आहु) ब्रवीति (मम) मत्प्रीतिपात्रम् (एषः) पुरुषः
(राये) मोक्षरूपाय धनाय (उपतिष्ठताम्) सेवताम् (इह) जगति ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासतै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

इमाम् । मात्रां । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासतै ॥

शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासतै) नाप सकता । (शते श्रुत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी परमेश्वर की ही वेदोक्त आज्ञा में रहकर निबाह करते हैं, और चाहे कोई नास्तिक अपने जीवन भर अन्यथा प्रयत्न करे, तो भी परमेश्वर के नियम को नहीं टाल सकता ॥ ३८ ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासतै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

प्र । इमाम् । मात्रां । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।

मासतै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (प्र) आगे बढ़कर (मिमीमहे) हम नापते हैं.....[मन्त्र ३८] ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ३९ ॥

३८—(इमाम्) वेदोक्ताम् (मात्राम्) मर्यादाम् (मिमीमहे) माङ् माने । मानेन जानीमः (यथा) यस्मात् कारणात् (अपरम्) अन्यप्रकारेण (न) निषेधे (मासतै) माङ् माने—लेट् । मानेन जानीयात् (शते) (श्रुत्सु) जीवनसंवत्सरेषु (नो) नैव (पुरा) पुरा प्रबन्धचिरातीतनिकटाऽऽगामिषु—इत्यव्ययार्थः । प्रबन्धेन निरन्तरेण ॥

३९—(प्र) प्रकर्षेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

अपेमां मात्रा मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४० ॥ (१०)

अपं । इमाम् । मात्रास् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।

मासातै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को
(अप) आनन्द से (मिमीमहे) हम नापते हैं.....[मन्त्र ३८] ॥ ४० ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४० ॥

वि३मां मात्रा मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४१ ॥

वि । इमाम् । मात्रास् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।

मासातै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को
(वि) विशेष करके (मिमीमहे) हम नापते हैं.....[मन्त्र ३८] ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४१ ॥

निरिमां मात्रा मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४२ ॥

निः । इमाम् । मात्रास् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।

मासातै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को
(निः) निश्चय करके (मिमीमहे) हम नापते हैं.....[म० ३८] ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४२ ॥

४०—(अप) आनन्देन । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४१—(वि) विशेषेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४२—(निः) निश्चयेन । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

उद्दिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासतै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥

उत् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।
मासतै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को
(उत्) उत्तमता से (मिमीमहे) हम नापते हैं.....[मन्त्र ३८] ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४३ ॥

समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासतै ।

शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥

सम् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।
मासतै ॥ शुते । श्रुत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को
(सम्) सब प्रकार (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्)
अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासतै) नाप सकता ।
(शते श्रुत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४४ ॥

अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।

यथापरं न मासतै शुते श्रुत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥

अमासि । मात्राम् । स्वरः । अगाम् । आयुष्मान् । भूयासम् ॥
यथा । अपरम् । न । मासतै । शुते । श्रुत्-सु । नो इति ।
पुरा ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(मात्राम्) मात्रा [इस वेदोक्त मर्यादा] को (अमासि) मैं नापूं, (स्वः) सुख (अगाम्) पाऊं, और (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं । (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य वेद विहित ईश्वर मर्यादा पर चल कर मोक्ष सुख प्राप्त करे, वेदविमुख पुरुष सारे जीवन भर भी प्रयत्न करने पर ईश्वर नियम को नहीं हटा सकता ॥ ४५ ॥

मन्त्राः ४६—४६ ॥

पितरो देवताः ॥ ४६ भुरिगनुष्टुप् । ४७ त्रिष्टुप् ; ४८ अनुष्टुप् ४६ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृगुणोपदेशः—पितरों के गुणों का उपदेश ॥

प्राणो अप्रानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृश्ये सूर्याय ।

अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितृन् गच्छ ॥ ४६ ॥

प्राणः । अप्रानः । वि-व्यानः । आयुः । चक्षुः । दृश्ये । सूर्याय ॥

अपरि-परेण । पथा । यम-राज्ञः । पितृन् । गच्छ ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य ! तेरे] (प्राणः) प्राण [श्वास], (अप्रानः) अप्रान [प्रश्वास], (व्यानः) व्यान [सर्व शरीर व्यापक वायु], (आयुः) जीवन और (चक्षुः) नेत्र (सूर्याय दृश्ये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने को [होवें] । (अपरिपरेण) इधर उधर न घूमने वाले [सर्वथा सीधे] (पथा)

४५—(अमासि) माङ् माने लिङ्गर्थे लुङ् । अहं मासीय (मात्राम्) वेदोक्तमर्यादाम् (स्वः) सुखम् (अगाम्) इण् गतौ—लिङ्गर्थे लुङ् । ईयासम् । प्राप्नुयाम् (आयुष्मान्) उत्तमजीवनयुक्तः (भूयासम्) अन्यत्पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४६—(प्राणः) श्वासः (अप्रानः) प्रश्वासः (व्यानः) सर्वशरीरव्याप-
को वायुः (आयुः) जीवनम् (चक्षुः) नेत्रम् (दृश्ये) दर्शनाय । द्रष्टुम् (सूर्याय)
सूर्यम् । सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (अपरिपरेण) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ
पर्यवस्थातरि । पा० ५ । २ । ८६ । अत्र परिपरशब्द इति प्रत्ययान्तो दृश्यते ।

मार्ग से (यमराज्ञः) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा रखने वाले (पितॄन्) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनन्यभाव से परमात्मा की प्राप्ति के लिये वेदानुयायी महात्माओं की शरण लेवे ॥ ४६ ॥

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥
ये । अग्रवः । शशमानाः । परा-ईयुः । हित्वा । द्वेषांसि ।
अनपत्य-वन्तः ॥ ते । द्याम् । उत्-इत्य । अविदन्त । लोकम् ।
नाकस्य । पृष्ठे । अधि । दीध्यानाः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्रवः) आगे चलने वाले, (शशमानाः) उद्योगी (अनपत्यवन्तः) अनैश्वर्य [दरिद्रता] न रखने वाले पुरुष (द्वेषांसि) द्वेषों को (हित्वा) छोड़कर (परेयुः) ऊंचे गये हैं । (ते) उन (दीध्यानाः) प्रकाशमान लोगों ने (द्याम्) प्रकाशमान विद्या को (उदित्य) उत्तमता से प्राप्त करके (नाकस्य) महासुख के (पृष्ठे) उपरि भाग में (लोकम्) स्थान (अधि) अधिकार पूर्वक (अविदन्त) पाया है ॥ ४७ ॥

परि परितः सर्वतः परः परभावो भिन्नभावः कुटिलभावो न विद्यते यस्मिन् तादृशेन महासरलेन (पथा) मार्गेण (यमराज्ञः) यमो न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तान् (पितॄन्) पालकान् । महापुरुषान् (गच्छ) प्राप्नुहि ॥

४७—(ये) विद्वांसः (अग्रवः) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । अग गतौ रुप्रत्ययः । अग्रगामिनः (शशमानाः) शश सुतगतौ—चानश् । सुतगमनशीलाः । उद्योगिनः (परेयुः) परा प्राधान्येन गताः (हित्वा) त्यक्त्वा (द्वेषांसि) विरोधान् (अनपत्यवन्तः) अहन्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । द्विनञ्पूर्वात् पत पेश्वर्ये—यक् । पत्यतेरैश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । अनैश्वर्यरहिताः । परमैश्व-वन्तः (ते) (द्याम्) प्रकाशमानां विद्याम् (उदित्य) उत्तमतया प्राप्य (अविदन्त) विदुः लाभे—लुङ् । अलभन्त (लोकम्) स्थानम् (नाकस्य) महासुखस्य (दीध्यानाः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः ॥

भावार्थ—विद्वान् उद्योगी महापुरुष ही पक्षपात छोड़ विद्या प्राप्त करके मोक्षसुख भोगते हैं ॥ ४७ ॥

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।

तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

उदन्-वती । द्यौः । अवमा । पीलु-मती । इति । मध्यमा ॥

तृतीया । ह । प्र-द्यौः । इति । यस्याम् । पितरः । आसते ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(उदन्वती) थोड़े जल वाली [नदी के समान] (अवमा) थोड़ी (द्यौः) प्रकाशमान विद्या है, (पीलुमती) फूलों वाली [लता के समान] (मध्यमा इति) मध्यम विद्या है । (तृतीया) तीसरी (ह) निश्चय करके (प्रद्यौः इति) बड़े प्रकाश वाली [विद्या] है, (यस्याम्) जिस [बड़ी विद्या] में (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (आसते) ठहरते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—छोटे विद्वान् छोटी नदी के समान, मध्यम विद्वान् केवल फल वाली लता के समान बाहिर से शोभायमान होते हैं, परन्तु पूर्ण विद्या प्राप्त करके सर्वोपकारी हो पितर अर्थात् पालनकर्ता कहाते हैं ॥ ४८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ॥

य आस्तियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ४८

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आ-वि-वि-शुः ।

४८—(उदन्वती) उदन्वानुदधौ च । पा० ८ । २ । १३ । उदकस्य उदन् मती, निन्दायां मतुप् । अल्पजला नदी यथा (द्यौः) प्रकाशकर्मा विद्या-दयानन्द-भाष्ये, यजु० १८ । १८ । प्रकाशमाना विद्या (अवमा) अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते । उ० ५ । ५४ । अव रक्षणगतिवधादिषु—अमप्रत्ययः । कुत्सिता । अल्पा (पीलुमती) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ पील रोधने-कु । द्रुमप्रभेदमातङ्ग-काण्डपुष्पाणि पीलवः । अमरः २३ । १६३ । प्रसूनवती । पुष्पयुक्ता लता यथा (इति) पादपूरणे (मध्यमा) (तृतीया) (ह) निश्चयेन (प्रद्यौः) प्रकर्षेण दीप्यमाना विद्या (इति) (यस्याम्) विद्यायाम् (पितरः) पालका महात्मानः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

उ६ । अन्तरिक्षम् ॥ ये । आ-क्षियन्ति । पृथिवीम् । उत ।
द्याम् । तेभ्यः । पितृ-भ्यः । नमसा । विधेम ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः)
पिता के समान हैं, और (ये) जो [उसके] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं,
और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्या बल से विमान
आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं और (ये) जो (पृथिवीम्) पृथिवी
(उत) और (द्याम्) आकाश में (आक्षियन्ति) सब प्रकार शासन करते हैं,
(तेभ्यः) उन (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] की (नमसा) अन्न से
(विधेम) हम सेवा करें ॥ ४६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम्हारे पिता दादे, परदादे आदि बड़े योगी
विद्वान् होकर विद्याबल से विमान आदि द्वारा आकाश में पहुँचे हैं और जो
पृथिवी और आकाश में राज्य करते हैं, उनका अन्न आदि से सत्कार करके
अपनी उन्नति करो ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आगे है--अथ० १८ । ३ । ५६ ।

मन्त्राः ५०—५२ ॥

भूमिर्देवता ॥ ५०, ५२ अनुष्टुप् ; ५१ भुरिगनुष्टुप् ॥

परमात्मोपासनोपदेशः--परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।

माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (११)

इदम् । इत । वै । ऊं इति । न । अपरम् । दिवि । पश्यसि ।

४६—(ये) माननीयाः (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः)
पितृतुल्यमाननीयाः (ये) (पितामहाः) पितामहसमानपूजनीयाः (ये)
(आविविशुः) प्रविष्टा बभूवुः (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम्
(ये) (आक्षियन्ति) क्षि पेश्वर्यनिवासयोः । अन्तर्गतण्यर्थः । क्षयति क्षियति,
पेश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । समन्ताद्दर्शयन्ति । सम्यक् शासति
(पृथिवीम्) (उत) अपि च (द्याम्) आकाशम् (तेभ्यः) तादृशेभ्यः
(पितृभ्यः) पालकेभ्यो महात्मभ्यः (नमसा) अन्नेन (विधेम) परिचरेम—
निघ० ३ । ५ ॥

सूर्यम् ॥ माता । पुत्रम् । यथा । सिचा । अभि । एनम् ।
भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५० ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (अपरम्) दूसरा (न) नहीं है, तू (दिवि) ज्ञान प्रकाश में (सूर्यम्) सर्वप्रेरक परमात्मा को (पश्यसि) देखता है ।

(यथा) जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने आंचल से, [वैसे] (भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक है, उसके समान और कोई नहीं है, वह ज्ञान नेत्र से दीखता है । वह अपने शरणागत भक्तों की इस प्रकार सर्वथा रक्षा करता है, जैसे माता अपने छोटे बच्चों की वस्त्र आदि से रक्षा करती है ॥ ५०

इस मन्त्र का उत्तरार्ध ऋग्वेद में है—१० । १८ । ११, और आगे है—
अथर्व १८ । ३ । ५० ॥

इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।

जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

इदम् । इत् । वै । ऊर्णुहि । न । अपरम् । जरसि । अन्यत् ।

इतः । अपरम् ॥ जाया । पतिम्-इव । वाससा । अभि ।

एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

५०—(इदम्) दृश्यमानम् । सर्वव्यापकं ब्रह्म (इत्) एव (वै) निश्चयेन (उ) च (न) निषेधे (अपरम्) अन्यत् किञ्चित् (दिवि) ज्ञानप्रकाशे (पश्यसि) अवलोकयसि (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (माता) जननी (पुत्रम्) (यथा) येन प्रकारेण (सिचा) पिच क्षरणे—किप् । वस्त्रेण । चेलाञ्चलेन (अभि) सर्वतः (एनम्) जीवम् (भूमे) भवन्ति लोका यस्यां सा भूमिः परमेश्वरः । हे सर्वाधार परमात्मन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सर्वथा रक्ष ॥

भाषार्थ—(इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (जरसि) स्तुति में (इतः) इस [ब्रह्म] से (अन्यत्) भिन्न (अपरम् अपरम्) दूसरा कुछ भी (न) नहीं है ।

(इव) जैसे (जाया) सुख उत्पन्न करने वाली पत्नी (पतिम्) पति को (वाससा) वस्त्र से, [वैसे] (भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५१ ॥

भावार्थ—वह अद्वितीय सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर अपने उपासकों को अपनी कृपा से ऐसा प्रसन्न रखता है, जैसे पत्नी पति को वस्त्र आदि की सेवा से प्रसन्न रखती है ॥ ५१ ॥

अभि त्वोर्णमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।

जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अभि । त्वा । ऊर्णमि । पृथिव्याः । मातुः । वस्त्रेण ।
भद्रया ॥ जीवेषु । भद्रम् । तत् । मयि । स्वधा । पितृषु ।
सा । त्वयि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (त्वा) तुझे (पृथिव्याः) जगत् के विस्तार करने वाले परमेश्वर के [दिये] (भद्रया) कल्याण से (अभि) सब ओर से (ऊर्णमि) मैं ढकता हूं, [जैसे] (मातुः) माता के (वस्त्रेण) वस्त्र से [बालक को] । (जीवेषु) जीवों में (भद्रम्) [जो] कल्याण हो, (तत्) वह

५१—(अपरम् अपरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अन्यत् किञ्चिदपि (जरसि) जृ स्तुतौ—असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । स्तुतौ (अन्यत्) (इतः) अस्मात् परब्रह्मणः (जाया) सुखोत्पादिका पत्नी (पतिम्) भर्तारम् (इव) यथा—अन्यत् पूर्ववत्—म० ५० ॥

५२—(अभि) अभितः । सर्वतः (त्वा) जीवम् (ऊर्णमि) आच्छादयामि (पृथिव्याः) प्रथेः विवन्० । उ० १ । १५० । प्रथ प्रख्याने—विवन्, संप्रसारणं ऊष् च । प्रथयति विस्तारयति सर्वं जगत् सा पृथिवी परमेश्वरः । जगद् विस्तारकस्य परमेश्वरस्य (मातुः) जनन्याः (वस्त्रेण) वाससा यथा (भद्रया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्त्येयप्रत्ययः । भद्रेण । कस्या-

(मयि) मुझ में [हो] . (पितृषु) पितरों [रत्नक महात्माओं] में (स्वधा) [जो] आत्म धारण शक्ति हो, (सा) वह (त्वयि) तुझ में होवे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की शरण में रहकर इस प्रकार सुख पावे, जैसे बालक माता के पास पाता है, और ऐसा प्रयत्न करे कि सब प्राणी एक दूसरे के समान सुख पावे और ज्ञानी महात्माओं के समान आत्मा-वलम्बन करे ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३-५५ ॥

पूषा देवता ॥ ५३, ५५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ५४ त्रिष्टुप् ॥

सन्मार्गगमनोपदेशः—सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधयुर्वि लोकम् ।
उप प्रेष्ठ्यन्तं पुषणं यो वहतीत्यञ्जोयानैः पृथिभिस्तत्र
गच्छतम् ॥ ५३ ॥

अग्नीषोमा । पथि-कृता । स्योनम् । देवेभ्यः । रत्नम् ।
दधयुः । वि । लोकम् ॥ उप । प्र । ईष्यन्तम् । पुषणम् ।
यः । वहति । अञ्जुः-यानैः । पृथि-भिः । तत्र । गच्छतम् ५३

भाषार्थ—(अग्नीषोमा) हे ज्ञानवान् और पेश्वर्यवान् ! [स्त्री पुरुषो]
(पथिकृता) मार्ग बनाने वाले तुम दोनों (देवेभ्यः) विद्वानों को (स्योनम्)
सुख, (रत्नम्) रत्न और (लोकम्) स्थान (वि) विविध प्रकार (दधयुः)
दो । (यः) जो [परमेश्वर] (अञ्जोयानैः) सीधे चलने वाले (पृथिभिः)

णेन (जीवेषु) प्राणिषु (भद्रम्) यत् कल्याणम् (तत्) (मयि) प्राणिनि
(स्वधा) या स्वधारणशक्तिः (पितृषु) पालकेषु महात्मसु (सा) (त्वयि)
प्राणिनि भवतु ॥

५३—(अग्नीषोमा) अग गतौ—नि + पू प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । ज्ञानैश्वर्य-
वन्तौ स्त्रीपुरुषौ (पथिकृता) मार्गकर्तारौ (स्योनम्) सुखम् (देवेभ्यः)
विद्वद्भ्यः (रत्नम्) प्रशस्तं धनम् (दधयुः) लोडर्थे लिट् । धत्तम् । दत्तम्
(वि) विविधम् (लोकम्) स्थानम् (उप) उपेत्य (प्र) प्रकर्षेण (ईष्यन्तम्)

मार्गों से [हम सब को] (वहति) ले चलता है, (प्र ईष्यन्तम्) उस अच्छे प्रकार देखते हुये (पूषणम्) पोषक परमात्मा को (उप) प्राप्त होकर (तत्र) वहाँ [मार्गों में] (गच्छतम्) तुम दोनों चलो ॥ ५३ ॥

भावार्थ--सब स्त्री पुरुष विद्वानों का सब प्रकार सत्कार करके वेद-विहित मार्गों पर चल कर परमात्मा को साक्षात् करके परम आनन्द पावे ॥ ५३ ॥

पूषा त्वेतश्च्यवयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥

पूषा । त्वा । इतः । च्यवयतु । प्र । विद्वान् । अनष्ट-पशुः ।

भुवनस्य । गोपाः ॥ सः । त्वा । एतेभ्यः । परि । ददत् ।

पितृ-भ्यः । अग्निः । देवेभ्यः । सु-विदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) सब जानने वाला, (अनष्टपशुः) जीवों का नाश नहीं करने वाला, (भुवनस्य) संसार का (गोपाः) रक्षक, (पूषा) पोषक परमात्मा (त्वा) तुझे (इतः) यहाँ से [इस दशा से] (प्र च्यवयतु) आगे को बढ़ावे । (सः) वह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (त्वा) तुझे (एतेभ्यः) इन (देवेभ्यः) विद्वान् (सुविदत्रियेभ्यः) बड़े धन वाले (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (परि) सब प्रकार (ददत्) देवे ॥ ५४ ॥

ईष गतिहिंसादर्शनेषु—शत्रु । पश्यन्तम् (पूषणम्) तं पोषकं परमात्मानम् (यः) पूषा परमात्मा (वहति) लडर्थे लेट् । वहति । नयति (अञ्जोयानैः) अञ्जसा सरलभावेन गन्तृभिः (पथिभिः) मार्गैः (तत्र) तेषु मार्गेषु (गच्छतम्) ॥

५४—(पूषा) पोषकः परमात्मा (त्वा) त्वामुपासकम् (च्यवयतु) गमयतु (प्र) प्रकर्षेण (विद्वान्) (अनष्टपशुः) अनष्टा अहताः पशवः प्राणिनो येन स तथोक्तः (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाः) गुप् रक्षणे-आय-प्रत्यये कृते क्तिप्, अल्लोपयलोपो । गोपायिता । रक्षकः (त्वा) (एतेभ्यः) (परि) सर्वतः (ददत्) दद्यात् (पितृभ्यः) पात्तकेभ्यो महात्मभ्यः (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (सुविदत्रियेभ्यः) सुविदत्र-घप्रत्ययः । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेः—निरु० ७ । ६ । बहुधनार्हेभ्यः । महाधनिभ्यः ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वदर्शक, सर्वरक्षक, सर्वनियामक, जगदीश्वर की उपासना करके आगे बढ़े, जिस से वह बड़े बड़े विद्वानों में स्थान पावे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४ अभेद से और मन्त्र ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०।१७।३,४॥

आयुर्वि॒श्वायुः॑ परि॒ पातु॑ त्वा॒ पूषा॑ त्वा॒ पातु॑ प्र॒पथे॑ पुरस्तात् ।
प॒त्रास॑ते सु॒कृतो॑ यत्र॒ त ई॒युस्तत्र॑ त्वा॒ देवः॑ स॒विता॑ द॒धातु॑ ॥५५॥
आयुः । विश्व-आयुः । परि । पातु । त्वा । पूषा । त्वा ।
पातु । प्र-पथे । पुरस्तात् ॥ यत्र । आसते । सु-कृतः । यत्र ।
ते । ईयुः । तत्र । त्वा । देवः । सविता । दधातु ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(विश्वायुः) सब को अन्न देने वाला (आयुः) सर्वव्यापक परमात्मा (त्वा) तेरी (परि) सब ओर से (पातु) रक्षा करे, (पूषा) पोषक परमेश्वर (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (पुरस्तात्) सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे । (यत्र) जहां [उत्तम स्थान में] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (आसते) बैठते हैं, और (यत्र) जहां [उत्तम मार्ग में] (ते) वे (ईयुः) चले हैं, (तत्र) वहां [उस स्थान और मार्ग में] (त्वा) तुझको (देवः) प्रकाशमय (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (दधातु) रक्षे ॥ ५५ ॥

भावार्थ—सर्वपालक, सर्वव्यापक, सर्वपोषक जगदीश्वर का आभय लेकर सदा सुकर्मी लोग सन्मार्ग पर चलते हैं, उसी जगत् पिता की शरण में रह कर प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ मार्ग पर चल कर सुखी होवे ॥ ५५ ॥

५५—(आयुः) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । सर्वव्यापकः (विश्वायुः) आयुः, अन्नम्—निघः २ । ७ । सर्वेभ्यः प्रापणीयमन्नं यस्मात् सः परमेश्वरः (परि) सर्वतः (पातु) (त्वा) (पूषा) पोषकः परमेश्वरः (त्वा) (पातु) (प्रपथे) प्रकृष्टे मार्गे (पुरस्तात्) अग्रे (यत्र) यस्मिन् श्रेष्ठस्थाने (आसते) उपविशन्ति (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (यत्र) सन्मार्गे (ते) सुकृतिनः (ईयुः) जग्मुः (तत्र) स्थाने मार्गे च (त्वा) (देवः) प्रकाशमयः (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (दधातु) धारयतु । स्थापयतु ॥

मन्त्रः ५६ ॥

परमात्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

इमौ युनजिम ते वही असुनीताय वोढवे ।

ताभ्यां यमस्य सदनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥

इमौ । युनजिम् । ते । वही इति । असु-नीताय । वोढवे ॥

ताभ्याम् । यमस्य । सदनम् । सम्-इतीः । च । अव ।

गच्छतात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(इमौ) इन (वही) ले चलने वाले दोनों [प्राण और अपान] को (असुनीताय) बुद्धि से ले जाये गये (ते) तुम्हें (वोढवे) ले चलने के लिये (युनजिम) मैं [परमेश्वर] युक्त करता हूँ । (ताभ्याम्) उन दोनों [प्राण और अपान] के द्वारा (यमस्य) नियम के (सदनम्) प्राप्ति योग्य पद को (च) और (समितीः) समितियों [सभाओं] को (अव गच्छतात्) निश्चय से तू प्राप्त हो ॥ ५६ ॥

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देता है कि हे मनुष्य मैं ने प्राण अपान आदि बुद्धि सहित तुम्हें इस लिये दिये हैं कि तू नियम के साथ उत्तम पद प्राप्त करके सभाओं में प्रतिष्ठा पावे ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ५७—६० ॥

जीवात्मा देवता ॥ ५७ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५८ निचृत् त्रिष्टुप्; ५९, ६० त्रिष्टुप् ॥

५६—(इमौ) शरीरे वर्तमानौ (युनजिम) अहं परमेश्वरो योजयामि (ते) द्वितीयार्थे चतुर्थी । त्वाम् (वही) वोढारौ प्राणापानौ (असुनीताय) असुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थान्-निरु० १० । ३४ । प्रज्ञया नीतं प्रापितम् (वोढवे) वह प्रापणे—तवेनप्रत्ययः । वाढुम् । नेतुम् (ताभ्याम्) प्राणापानाभ्यां द्वारा (यमस्य) नियमस्य (सदनम्) स्थानम् । पदम् (समितीः) सभाः (च) (अव) निश्चयेन (गच्छतात्) प्रामुहि ॥

सुकर्म करणोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागुन्नपैतदूहं यदिहाविभः पुरा ।

इष्टापुर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥५७॥

एतत् । त्वा । वासः । प्रथमम् । नु । आ । अगन् । अप ।

एतत् । ऊह । यत् । इह । अविभः । पुरा ॥ इष्टापुर्तम् ।

अनु-संक्राम । विद्वान् । यत्र । ते । दत्तम् । बहु-धा । वि-
बन्धुषु ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(एतत्) यह (प्रथमम्) मुख्य (वासः) वस्त्र (त्वा) तुम्हें (नु) अब (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, (एतत्) इस [वस्त्र] को (अप ऊह) छोड़ (यत्) जो (इह) यहां पर (पुरा) पहिले (अविभः) तू ने धारण किया है । (विद्वान्) विद्वान् तू (इष्टापुर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन और अन्नदान आदि पुण्य कर्म के (अनुसंक्राम) पोछे पीछे चल, (यत्र) जिस [पुण्य कर्म] में (ते) तेरा (दत्तम्) दान (बहुधा) बहुत प्रकार से (विबन्धुषु) बिना बन्धु वालों [दीन, अनार्थों] में है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जैसे नवीन वस्त्र पाने पर जीर्ण वस्त्र छोड़ दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति पर अज्ञान त्यागा जाता है । मनुष्य को चाहिये कि वेदाध्ययन आदि शुभकर्म करता हुआ निष्काम होकर परोपकार करे ॥ ५७ ॥

५७—(एतत्) इदं दृश्यमानम् (त्वा) त्वाम् (वासः) वस्त्रम् (प्रथमम्) मुख्यम् (नु) इदानीम् (आगन्) आगमत् । प्राप्नोत् (अप ऊह) ऊह वितर्के । परित्यज (एतत्) वस्त्रम् (यत्) वस्त्रम् (इह) अत्र संसारे (अविभः) विभर्त्तेर्लङ् । अधारयः (पुरा) पूर्वकाले (इष्टापुर्तम्) अ० २ । १२ । १४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म (अनुसंक्राम) अनुलक्ष्य गच्छ (विद्वान्) (यत्र) यस्मिन् पुण्यकर्मणि (ते) तव (दत्तम्) दानम् (बहुधा) बहुप्रकारेण (विबन्धुषु) विगतबान्धवेषु । दीनेषु ॥

अग्नेर्वम् परि गोभिर्व्ययस्व सं मोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जहृषाणो दधृक् विधुक्षन् परीङ्क्षयातै ५८
अग्नेः । वर्म । परि । गोभिः । व्ययस्व । सम् । प्र । ऊर्णुष्व ।
मेदसा । पीवसा । च ॥ न । इत् । त्वा । धृष्णुः । हरसा ।
जहृषाणः । दधृक् । वि-धुक्षन् । परि-ईङ्क्षयातै ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अग्नेः) ज्ञानमय परमेश्वर के (वर्म) कवच [समान आश्रय] को (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (परि) सब ओर से (व्ययस्व) तू पहिन और (मेदसा) ज्ञान से (च) और (पीवसा) वृद्धि से [अपने को] (सम्) सब प्रकार (प्र ऊर्णुष्व) ढके रख । (न इत्) नहीं तौ (धृष्णुः) साहसी, (जहृषाणः) अत्यन्त हर्ष मनाने वाला, (दधृक्) निर्भय परमात्मा (त्वा) तुझ को (हरसा) [अपने] तेज से (विधुक्षन्) विविध प्रकार सन्ताप देता हुआ (परीङ्क्षयातै) इधर उधर चला देगा ॥ ५८ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेदों के मनन से परमात्मा का आश्रय ले बुद्धि बढ़ाकर उन्नति करें, नहीं तौ सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के नियम से दुष्ट मूर्ख नरक भोगेगा ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ७ । और महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

५८—(अग्नेः) ज्ञानमयस्य परमात्मनः (वर्म) कवचरूपमाश्रयम् (परि) सर्वतः (गोभिः) वेदवाग्भिः (व्ययस्व) व्येज् संवरणे । संवृणु (सम्) सम्यक् (प्र) प्रकर्षेण (ऊर्णुष्व) आच्छादय (मेदसा) मेद मेधा-योम्—असुन् । मेधया । ज्ञानेन (पीवसा) पीव स्थौल्ये—असुन् । वृद्ध्या (च) (न इत्) नो चेत् (त्वा) (धृष्णुः) धर्षकः । अविभविता (हरसा) स्वतेजसा (जहृषाणः) अत्यन्तं हृष्यन् (दधृक्) ऋत्विग्दधृक्स्वगू० । पा० । ३ । २ । ५६ । धृष्णोतैः किन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च । धृष्टः । प्रगल्भः (विधुक्षन्) विविधं दग्धुं तापयितुमिच्छन् (परीङ्क्षयातै) ईस्त्रि गतौ—लेट् । ईङ्क्षत इति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । सर्वथा चालयेत् ॥

दण्डं हस्ताद्वाददीनो गतासोः सुह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
 अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५८॥
 दण्डम् । हस्तात् । आ-ददीनः । गत-असोः । सुह । श्रोत्रेण ।
 वर्चसा । बलेन ॥ अत्र । एव । त्वम् । इह । वयम् । सु-वीराः
 विश्वाः । मृधः । अभि-मातीः । जयेम ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(गतासोः) प्राण छोड़े हुये [मृतक समान निरुत्साही]
 पुरुष के (हस्तात्) हाथ से (श्रोत्रेण) [अपने] श्रवण सामर्थ्य [विद्याबल],
 (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (दण्डम्) दण्ड [शासन
 पद] को (आददानः) लेता हुआ (त्वम्) तू (अत्र एव) यहां पर
 और (वयम्) हम (इह) यहां पर (सुवीराः) बड़े वीरों वाले होकर
 (विश्वाः) सब (मृधः) संग्रामों और (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओं
 को (जयेम) जीते ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म में निरुत्साही हो, सब धर्मात्मा पुरुष उस
 दुराचारी को पदच्युत करके परास्त करें ॥ ५८ ॥

मन्त्र ५६ का उत्तरार्द्ध और मन्त्र ६० का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद
 में है—१० । १८ । ६ ॥

धनुर्हस्ताद्वाददीनो मृतस्य सुह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
 सुमागृभाय वसु भूरि पुष्टसुर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥६०॥ (१२)
 धनुः । हस्तात् । आ-ददीनः । मृतस्य । सुह । श्रोत्रेण । वर्चसा ।

५६—(दण्डम्) शासनाधिकारम् (हस्तात्) अधिकारात् (आददानः)
 गृह्णानः (गतासोः) विगतप्राणस्य । मृतकसदृशस्य (सह) (श्रोत्रेण)
 श्रवणसामर्थ्येन । विद्याबलेन (वर्चसा) तेजसा (बलेन) सामर्थ्येन (अत्र)
 अस्मिन् संसारे (एव) (त्वम्) (इह) (वयम्) पुरुषार्थिनः (सुवीराः)
 सुवीरवन्तः (विश्वाः) सर्वाः (मृधः) संग्रामान् (अभिमातीः) अभिमन्य-
 मानान् शत्रून् (जयेम) अभिभवेम ॥

बलेन ॥ सुम्-आगृभाय । वसु । भूरि । पुष्टम् । अर्वाङ् ।
त्वम् । आ । इहि । उप । जीव-लोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

भाषार्थ—(मृतस्य) मरे हुये [मरे हुये के समान दुर्बलेन्द्रिय पुरुष]
के (हस्तात्) हाथ से (धनुः) धनुष [शासनशक्ति] को (क्षत्रेण) [अपने]
क्षत्रियपन, (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (आददानः)
लेता हुआ तू (भूरि) बहुत (पुष्टम्) पुष्ट [पुष्टिकारक] (वसु) धन (समा-
गृभाय) यथावत् संग्रह कर और (अर्वाङ्) सामने होता हुआ (त्वम्) तू
(जीवलोकम्) जीवते हुये [पुरुषार्थी] मनुष्यों के समाज में (उप) आदर
से (आ इहि) आ ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मके पालने में पुरुषार्थ न करता हो, उस को
अधिकार से हटाकर पुरुषार्थी पुरुष धर्मसे धन का संग्रह करके सब लोगों की
वृद्धि करे ॥ ६० ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ [मन्त्राः १-७३] ॥

मन्त्राः १—४ ॥ नारी देवता ॥ १,२,३ त्रिष्टुप्, ४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

नियोगविधानोपदेशः—नियोग विधान का उपदेश ॥

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यतु उप त्वा मर्त्यं प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥

६०— (धनुः) चापम् । शासनचिह्नम् (हस्तात्) अधिकारात्
(आददानः) गृहणानः (मृतस्य) मृतकतुल्यस्य दुर्बलेन्द्रियस्य (सह)
(क्षत्रेण) क्षत्रियत्वेन (वर्चसा) (बलेन) (समागृभाय) ग्रह उपादाने-शना-
प्रत्ययस्य शायजादेशः, हस्य भः । संग्रहेण प्राप्नुहि (वसु) धनम् (भूरि)
बहुलम् (पुष्टम्) पोषकम् (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (त्वम्) (इहि) आगच्छ
(उप) पूजायाम् (जीवलोकम्) जीवानां जीवितानां पुरुषार्थिनां लोकं समाजम् ॥

इयम् । नारी । पति-लोकम् । वृणाना । नि । पद्यते । उप ।
त्वा । मर्त्य । म-इतम् ॥ धर्मम् । पुराणम् । अनु-पालयन्ती ।
तस्यै । । म-जाम् । द्रविणम् । च । इह । धेहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मर्त्य) हे मनुष्य ! (इयम्) यह (नारी) नारी (पतिलो-
कम्) पति के लोक [गृहाश्रम के सुख] को (वृणाना) चाहती हुयी और
(पुराणम्) पुराने [सनातन] (धर्मम्) धर्म को (अनुपालयन्ती) निरन्तर
पालती हुयी (प्रेतम्) मरे हुये [पति] की (उप) स्तुति करती हुयी (त्वा)
तुझको (निपद्यते) प्राप्त होती है, (तस्यै) उस [स्त्री] को (प्रजाम्) सन्तान
(च) और (द्रविणम्) बल (इह) यहां पर (धेहि) धारण कर ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि विधवा स्त्री मृत पति के गुण गाती हुयी सन्तान
उत्पन्न करना चाहे, वह मृतस्त्रीक पुरुष के साथ यथाविधि नियोग करके
अपने कुल की वृद्धि के लिये सन्तान उत्पन्न करे । इसी प्रकार मृतस्त्रीक पुरुष
अपने कुलकी बढ़ती के लिये सन्तान उत्पन्न करने को विधवा स्त्री से विधिवत्
नियोग करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका नियोग विषय
में व्याख्यात है ॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गुतासुमेतमुप शेष एहि ।

हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥

१—(इयम्) दृश्यमाना विधवा (नारी) ऋतोऽञ् । पा० ४ । ४ । ४६ ।
नराच्चेति वक्तव्यम् । इति तत्रैव वार्त्तिकं च । नृ, नर—अञ् । शार्ङ्गरवाद्यजोऽङीन् ।
पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् । नुर्नरस्य वा धर्माचारोऽस्यां सा । स्त्री (पति-
लोकम्) पतिगृहम् । गृहाश्रमसुखम् (वृणाना) वाञ्छन्ती (निपद्यते)
प्राप्नोति (उप) पूजायाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (त्वा) त्वाम् मृतस्त्रीकम्
(मर्त्य) हे मनुष्य (प्रेतम्) म+इण् गतौ-क्त । मृतं पतिम् (धर्मम्) धारणीयं
नियमम् (पुराणम्) पुरा अग्रे नीयते । णीञ्—ङ । सनातनम् (अनुपालयन्ती)
निरन्तरं रक्षन्ती (तस्यै) विधवायै (प्रजाम्) सन्तानम् (द्रविणम्)
बलम्—निघ० २ । ६ (च) (इह) गृहाश्रमे (धेहि) धारय ॥

उत् । ईर्ष्व । नारि । अभि । जीव-लोकम् । गत-असुम् ।
 एतम् । उप । शेषे । आ । इहि ॥ हस्त-ग्राभस्य । दधिषोः ।
 तव । इदम् । पत्युः । जनि-त्वम् । अभि । सम् । बभूथ । २

भाषार्थ—(नारि) हे नारी ! (जीवलोकम् अभि) जीवते पुरुषों के समाज की ओर (उत्) उठकर (ईर्ष्व) चल, (एतम्) इस (गतासुम्) गये प्राण वाले [मरे वा रोगी पति] को (उप) सराहती हुयी (शेषे) तू पड़ी है, (आ इहि) आ (दधिषोः) वीर्यदाता [नियुक्त पति] से (ते) अपने (हस्तग्राभस्य) [विवाह में] हाथ पकड़ने वाले (पत्युः) पति के (जनित्वम्) सन्तान को (इदम्) अब (अभि) सब प्रकार (सम्) यथावत् [शास्त्रानुसार] (बभूथ) तू प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—विपत्ति काल में अर्थात् सन्तान न होने पर पति के बड़े रोगी होने वा मर जाने पर स्त्री मृतस्त्रीक पुरुष से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके पति के वंश को चलावे । इसी प्रकार जिस पुरुष की स्त्री बड़ी रोगिनी हो वा मर गई हो वह विधवा से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके अपना वंश चलावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८ । ८, वहाँ पर (दधिषोः) के स्थान पर (दिधिषोः) पद है और ऋग्वेद पाठ ही महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि

२—(उत्) उत्थाय (ईर्ष्व) गच्छ (नारि) म० १ । हे स्त्री (अभि) अभिलक्ष्य (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (गतासुम्) विगतप्राणम् । मृतं रोगिणं वा (एतम्) दृश्यमानम् (उप) पूजयाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (शेषे) शीङ् स्वप्ने । भूमौ वर्तसे (इहि) आगच्छ (हस्तग्राभस्य) ग्रह उपादाने—कर्मण्यण्, हस्य भः । विवाहे गृहीतहस्तस्य (दधिषोः) दधातेद्वित्वमित्वं षुक् च । उ० ३ । ६७ । इति दर्शनात् । कुर्भश्च । उ० १ । २२ । दधातेः कु, इत्वं षुगागमश्च । दधिषुरेव दिधिषुः । नियुक्तायां स्त्रियां गर्भस्थापकात् पुरुषात् (तव) स्वकीयायाः (इदम्) इदानीम् (पत्युः) स्वामिनः (जनित्वम्) सन्तानम् (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् । यथाविधि (बभूथ) भू सत्तायां प्राप्तौ च । छन्दसि लुङ्लुङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लोट्थे लिट् । बभूविथ । प्राप्तिहि ॥

भाष्य भूमिका के और सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास के नियोग विषय में व्याख्यात है ॥

मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ५८ आदि में नियोग विषय का वर्णन है, यहां दो श्लोक लिखे जाते हैं—

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिहृतये ॥ १ ॥

विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ २ ॥

मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ५६, ६२ ॥

देवर [पति के छोटे वा बड़े भाई] से अथवा सपिण्ड से [पति की छह पीढ़ियों के भीतर वाले से] यथाविधि [पति आदि बड़े लोगों द्वारा] नियुक्त की हुयी स्त्री को सन्तान के सर्वथा नाश होने पर यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये ॥ १ ॥

विधवा [आदि] में नियोग का प्रयोजन यथाविधि पूरा हो जाने पर दोनों [पुरुष और स्त्री] गुरु के समान और पुत्र बधू के समान आपस में बर्ताव करें ॥ २ ॥

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ३
अपश्यम् । युवतिम् । नीयमानाम् । जीवाम् । मृतेभ्यः ।
पुरि-नीयमानाम् ॥ अन्धेन । यत् । तमसा । प्रावृता ।
आसीत् । प्राक्तः । अपाचीम् । अनयम् । तत् । एनाम् ॥३॥

भाषार्थ—(जीवाम्) जीवती हुयी [पुरुषार्थ युक्त] (युवतिम्) युवा स्त्री (नीयमानाम्) ले जायी गयी और (मृतेभ्यः) मरे हुआँ से [मृतक वा महारोगियों से] (परिणीयमानाम्) पृथक् ले जायी गयी (अपश्यम्) मैं ने देखी है । (यत्) क्योंकि वह (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार से [सन्तान न

३—(अपश्यम्) अहं दृष्टवानस्मि (युवतिम्) यौवनवतीं स्त्रियम् (नीयमानाम्) प्राप्यमाणाम् (जीवाम्) जीवन्तीम् प्राणवतीम् (मृतेभ्यः) गतप्राणपुरुषेभ्यः सकाशात् (परिणीयमानाम्) पृथक् प्राप्यमाणाम् (अन्धेन) गाढेन (यत्) यस्मात् कारणात् (तमसा) अन्धकारेण सन्तानाभावशोकेन

होने के शोक से] (प्रावृता) ढकी हुयी (आसीत्) थी, (तत्) इसी से (एनाम्) उस (अपाचीम्) अलग पड़ी हुयी स्त्री को (प्राक्तः) सामने (अनयम्) मैं लाया हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि स्त्री का पति मर गया हो वा महारोगी हो और स्त्री सन्तान के न होने से दुःखित हो, तो बुद्धिमान् लोग उस को धैर्य देकर नियोग विधि से सन्तान उत्पन्न करा के प्रसन्न करें ॥ ३ ॥

प्रजानृत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।

अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

प्र-जानृती । अघ्न्ये । जीव-लोकम् । देवानाम् । पन्थाम् । अनु-संचरन्ती ॥ अयम् । ते । गो-पतिः । तम् । जुषस्व । स्वः-गम् । लोकम् । अधि । रोहय । एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे निष्पाप स्त्री ! तू (जीवलोकम्) जीवित मनुष्यों के समाज को (प्रजानती) अच्छे प्रकार जानती हुई और (देवानाम्) विद्वानों के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुसंचरन्ती) निरन्तर चलती हुई है । (अयम्) यह [नियुक्त पति] (ते) तेरी (गोपतिः) वाणी का रक्षक [वंश चलाने की बात निबाहने वाला] है, (तम्) उसको (जुषस्व) सेवन कर (एनम्) इसको (स्वर्गम् लोकम्) स्वर्ग लोक [सुख के समाज] में (अधि) अधिकार पूर्वक (रोहय) प्रकट कर ॥ ४ ॥

(प्रावृता) अतिशयेन वेष्टिता (आसीत्) (प्राक्तः) आभिमुख्येन (अपाचीम्) अपीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वा—निरु० ४ । २५ । अपगताम् । पृथग् गताम् (अनयम्) आनीतवानस्मि (तत्) तस्मात् कारणात् (एनाम्) युवतिम् ॥

४—(प्रजानती) प्रकर्षेण जानाना (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये । निष्पापे (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (देवानाम्) विदुषाम् (पन्थाम्) पन्थानम् (अनुसंचरन्ती) निरन्तरं गच्छन्ती (अयम्) नियुक्तः पतिः । दधिषुः (ते) तव (गोपतिः) वाचो रक्षकः (जुषस्व) सेवस्व । प्रीणीहि (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (लोकम्) समाजम् (अधि) अधिकृत्य (रोहय) प्रादुर्भाविष्य । प्रापय (एनम्) पुरुषम् ॥

भावार्थ—कुल की वृद्धि के मर्म को जानने हारी धर्मशीला स्त्री नियुक्त पति से यथेष्ट कुल वर्धक सन्तान अपने लिये और उस पुरुष के लिये उत्पन्न करे और इस प्रकार वे दोनों अपने अपने कुलों को बढ़ाकर अपने वचन की रक्षा करें ॥ ४ ॥

मन्त्राः ५—६ ॥

अग्निदेवता ॥ ५ निचृद् गायत्री; ६ अनुष्टुप्; ७, ८ त्रिष्टुप्; ९ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

उन्नतिकरणोपदेशः—उन्नति करने का उपदेश ॥

उप द्यामुप वेतुसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमुपामसि ॥५॥
उप । द्याम् । उप । वेतुसम् । अवत्-तरः । नदीनाम् ॥
अग्ने । पित्तम् । उपाम् । असि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (द्याम्) विद्या प्रकाश को (उप) पाकर और (नदीनाम्) स्तुतियों के (वेतुसम्) विस्तार को (उप) आदर से (अवत्तरः) अधिक रक्षा करता हुआ तू (उपाम्) प्राणों के (पित्तम्) तेज (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या प्राप्त करके स्तुति योग्य व्यवहारों की रक्षा रक्षा करता हुआ सब प्राणियों का बल बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो यजुर्वेद १७ । ६ ॥

५—(उप) उपेत्य । प्राप्य (द्याम्) विद्याप्रकाशम् (उप) पूजायाम् (वेतुसम्) वेत्तुस्तुत् च । उ० ३ । ११८ । वेत् तन्तुसन्ताने—असच् तुत् च । विस्तारम् (अवत्तरः) अव रक्षणे—शतृ, तरप् । अतिशयेन अवन् रक्षन् (नदीनाम्) एद अव्यक्ते शब्दे भाषायां स्तुतौ च—अच्, डीप् । नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५।२।स्तुतीनाम् (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (पित्तम्) अपि + देङ् पालने—क्त । अच उपसर्गात्तिः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति तादेशः । अपिदीयते रक्ष्यते शरीरं येन तत् । तेजः (उपाम्) प्राणानाम् (असि) ॥

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापय पुनः ।

क्याम्बुरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥

यम् । त्वम् । अग्ने । सम्-अदहः । तम् । ऊं इति । निः । वापय ।
पुनः ॥ क्याम्बूः । अत्र । रोहतु । शाण्ड-दूर्वा । वि-अल्कशा ६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू ने (यम्) जिस [ब्रह्मचारी] को (समदहः) यथाविधि तपाया है [ब्रह्मचर्य तप कराया है] (तम् उ) उस को (पुनः) अवश्य (निः) निश्चय करके (वापय) बीज के समान फैला । (अत्र) यहां [संसार में] (क्याम्बूः) ज्ञान उपदेश करने वाली, (शाण्डदूर्वा) दुःख नाश करने वाली और (व्यल्कशा) विविध प्रकार शोभा वाली [शक्ति] (रोहतु) प्रकट होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य आदि तप करा के सन्तानों को ऐसी शिक्षा देवे कि जिस से वे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति कर सकें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १० । १६ । १३ और वही पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

इदं तु एकं पुर ऊं तु एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
सं वेशने तुन्वा ३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सुधस्ये ॥७॥

६--(यम्) ब्रह्मचारिणम् (त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (समदहः) समन्ताद् ब्रह्मचर्यादि तपः कारितवानसि (तम्) ब्रह्मचारिणम् (उ) पाद-पूतौ (निः) निश्चयेन (वापय) डु वप बीजसन्ताने--णिच् । बीजवद् विस्तारय (पुनः) अवधारणे (क्याम्बूः) वातेर्डिञ्च । उ० ४ । १३४ । कि कित वा ज्ञाने-इण्प्रत्ययः, डित् । णित्कशिपद्यत्तैः । उ० १ । ८५ । अवि शब्दे-ऊप्रत्ययो णित् । ज्ञानस्य शब्दयित्री ज्ञापयित्री (अत्र) संसारे (रोहतु) प्रादुर्भवतु (शाण्डदूर्वा) शडि संघाते रोगे च--घञ्+दुर्व दूर्व हिंसायाम्--अच्, टाप्, दुःखस्य नाशयित्री (व्यल्कशा) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । वि+अल

इदम् । ते । एकम् । परः । ऊं इति । ते । एकम् । तृतीयेन ।
ज्योतिषा । सम् । विश्वस्व ॥ सुम्-वेशने । तन्वा । चारुः ।
एधि । प्रियः । देवानाम् । परमे । सुध-स्थे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् पुरुष !] (ते) तेरे लिये (इदम्) यह [कार्य रूप जगत्] (एकम्) एक [ज्योति तुल्य] है, (उ) और (परः) परे [आगे बढ़कर] (ते) तेरे लिये (एकम्) एक [कारण रूप जगत् ज्योति समान] है, (तृतीयेन) तीसरी (ज्योतिषा) ज्योति [प्रकाशस्वरूप परब्रह्म] के साथ (सम्) मिलकर (विश्वस्व) प्रवेश कर । (संवेशने) यथावत् प्रवेशविधि में (तन्वा) [अपनी] उपकार क्रिया से (चारुः) शोभायमान और (परमे) बड़े ऊंचे (सुधस्थे) समाज में (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (एधि) हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म जगत् के तत्त्व को परमात्मा के ज्ञान के साथ जान कर विद्या द्वारा उपकार करता हुआ विद्वानों में उच्च पद प्राप्त करे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ५६ । १ । और सामवेद में पू० १ । ७ । ३ ॥

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवीकः कृणुष्व सलिले सुधस्थे । तत्र त्वं
पितृभिः संविद्वानः सं सोमैनु मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥
उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रुव । ओकः । कृणुष्व ।

७—(इदम्) दृश्यमानं कार्यरूपं जगत् (ते) तुभ्यम् (एकम्) ज्योति-
र्वत् (परः) परस्तात् । अग्रे (उ) चार्थे (ते) तुभ्यम् (एकम्) कारणरूपं
सूक्ष्मं जगत्, ज्योतिः समानम् (तृतीयेन) कार्यकारणरूपसंसारत् परेण
(ज्योतिषा) प्रकाशस्वरूपेण परब्रह्मणा (सम्) संगत्य (विश्वस्व) प्रवेशं कुरु
(संवेशने) सम्यक् प्रवेशविधाने (तन्वा) तन उपकारे, तनु विस्तारे—ऊं ।
उपकारक्रियया (चारुः) शोभनः (एधि) अस भुवि—लोद् । भव (प्रियः)
प्रीतिकरः (देवानाम्) विद्वाम् (परमे) उत्कृष्टे (सुधस्थे) समाजे ॥

सुलिले । सुध-स्ये ॥ तत्र । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विद्वानः ।
सम् । सोमेन । मदस्व । सम् । स्वधाभिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (उत् तिष्ठ) उठ, (प्र इहि) आगे बढ़
(प्र द्रव) आगे को दौड़ और (सुलिले) चलते हुये जगत् में (सुधस्ये)
समाज के बीच (ओकः) घर (कृणुष्व) बना । (तत्र) वहां (त्वम्) तू
(पितृभिः) पितरों [पिता आदि रत्नक महात्माओं] के साथ (संविद्वानः)
मिलता हुआ (सोमेन) ऐश्वर्य से (सम्) मिलकर और (स्वधाभिः) आत्म-
धारण शक्तियों से (सम्) मिल कर (मदस्व) आनन्द पा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा पुरुषार्थ करके विद्वानों के सत्संग से प्रतिष्ठित
होकर ऐश्वर्य प्राप्त करे और आत्मावलम्बन करता हुआ सुखी रहे ॥ ८ ॥

प्रच्यवस्व तन्वँ१सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥
प्र । च्यवस्व । तन्वँस् । सम् । भरस्व । मा । ते । गात्रा ।
वि । हायि । मो इति । शरीरम् ॥ मनः । नि-विष्टम् । अनु-
संविशस्व । यत्र । भूमेः । जुषसे । तत्र । गच्छ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (तन्वम्) [अपने] शरीर को (प्र) आगे
(च्यवस्व) चला और (सम्) मिलकर (भरस्व) पोषण कर, [जिस से]
(मा) न तौ (ते) तेरे (गात्रा) अङ्ग (मो) और न (शरीरम्) [तेरा]

८—(उत्तिष्ठ) ऊर्ध्वं तिष्ठ (प्रेहि) अग्रे गच्छ (प्र द्रव) अग्रे धाव
(ओकः) गृहम् (कृणुष्व) कुरु (सुलिले) चल गतौ—इलच् । संगते
जगति यथा सायणः—ऋग्० १० । १२६ । ३ (सुधस्ये) समाजे (तत्र) समाजे
(त्वम्) (पितृभिः) रत्नकैर्महात्मभिः (संविद्वानः) संगच्छमानः (सम्)
संगत्य (सोमेन) ऐश्वर्येण (मदस्व) तृप्तो भव (सम्) संगत्य (स्वधाभिः)
स्वधारणशक्तिभिः । आत्मावलम्बनैः ॥

९—(प्र) प्रकर्षेण । अग्रे (च्यवस्व) च्यावय । गमय (तन्वम्) शरी-
रम् (सम्) संगत्य (भरस्व) पोषय (मा) निषेधे (ते) तव (गात्रा)

शरीर (वि) विचल होकर (हाथि) छूटे । (निविष्टम्) जमे हुये (मनः) मन के (अनुसंविशस्व) पीछे पीछे प्रवेश कर, और (यत्र) जहां (भूमेः) भूमि की (जुषसे) तू प्रीति करता है, (तत्र) वहां (गच्छ) जा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर से सदा उद्योग करके सब के पोषण में अपनी शरीर रक्षा करे और दृढ़ संकल्पी होकर आगे बढ़ता हुआ दुष्टों से शिष्टों की रक्षा करे ॥ ६ ॥

मन्त्राः १०—२४ ॥

पितरो देवताः ॥ १०, १२—१४, १६, १७, २०—२२, २४ त्रिष्टुप् ; ११ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ; १५ आर्ची त्रिष्टुप् ; १८ पादनिचृज् जगती ; १६ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २३ आर्षी पङ्क्तिः ॥

पितृकर्तव्योपदेशः—पितरों के कर्तव्य का उपदेश ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)
वर्चसा । माम् । पितरः । सोम्यासः । अञ्जन्तु । देवाः ।
मधुना । घृतेन ॥ चक्षुषे । मा । प्र-तरम् । तारयन्तः । जरसे ।
मा । जरत्-प्रष्टिम् । वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य वाले, (देवाः) विद्वान्, (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा] (माम्) मुझ को (वर्चसा) तेज से, (मधुना) विज्ञान और (घृतेन) प्रकाश से (अञ्जन्तु) प्रसिद्ध करें । (चक्षुषे) सूक्ष्म दृष्टि के लिये (मा) मुझे (प्रतरम्) आगे को (तारयन्तः) पार करते हुये [वे लोग]

त्यक्तं भवेत् (मो) नैव (शरीरम्) (मनः) चित्तम् (निविष्टम्) अवस्थितम् (अनुसंविशस्व) अनुसृत्य प्रविष्टो भव (यत्र) स्थाने (भूमेः) पृथिव्याः (जुषसे) प्रीतिं करोषि (तत्र) स्थाने (गच्छ) ॥

१०—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (पितरः) रक्षका महात्मानः (सोम्यासः) ऐश्वर्यवन्तः (अञ्जन्तु) अञ्जूव्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु । व्यक्तीकुर्वन्तु । विख्यातं कुर्वन्तु (देवाः) विद्वांसः (मधुना) विज्ञानेन (घृतेन) प्रकाशेन (चक्षुषे) सूक्ष्मदर्शनाय (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् । अधिकतरम् (तारयन्तः) पारयन्तः (जरसे)

(जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाले (मा) मुझ को (जरसे) स्तुति के लिये (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ऐसी शिक्षा प्रणाली चलावें कि जिस से सब लोग बलवान्, विज्ञानवान्, तेजस्वी और सूक्ष्मदर्शी होकर संसार में कीर्ति पावें ॥ १० ॥

वर्चसा मां समनक्तुग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्तुवासन् । रुयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥

वर्चसा । माम् । सम् । अनक्तु । अग्निः । मेधाम् । मे । विष्णुः । नि । अनक्तु । आसन् ॥ रुयिम् । मे । विश्वे । नि । यच्छन्तु । देवाः । स्योनाः । मा । आपः । पवनैः । पुनन्तु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (वर्चसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) विख्यात करे, (विष्णुः) विष्णु [सर्वव्यापक जगदीश्वर] (मे) मेरे (आसन्) मुख में (मेधाम्) बुद्धि को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (रुयिम्) धन (मे) मुझ को (नि) निरन्तर (यच्छन्तु) देवें, (स्योनाः) सुख देने वाले (आपः) आप विद्वान् (मा) मुझे (पवनैः) शुद्ध व्यवहारों से (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥ ११ ॥

जू स्तुतौ—असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । स्तुतये (मा) माम् (जरदष्टिम्) अ० २ । २८ । ५ । जू स्तुतौ—अतृन्+अश्रु व्याप्तौ—क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्यस्य तम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु उन्नयन्तु ॥

११—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (सम्) सम्यक् (अनक्तु) विख्यातं करोतु (अग्निः) ज्ञानमयः परमेश्वरः (मेधाम्) प्रज्ञाम् (विष्णुः) सर्वव्यापकः परमात्मा (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (आसन्) आसनि । आस्ये । मुखे (मे) मह्यम् (विश्वे) सर्वे (नि) निरन्तरम् (यच्छन्तु) दाण् दाने । ददतु (देवाः) उत्तमगुणाः (स्योनाः) सुखप्रदाः (मा) माम् (आपः) सर्व-विद्याव्यापिनो विपश्चितः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । १७ । आप्ता विद्वांसः (पवनैः) पवनव्यवहारैः (पुनन्तु) पुनश्च पुनः ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आराधना से तेजस्वी होकर विद्या का प्रकाश करें और धर्म से धन प्राप्त करके आप्त विद्वानों द्वारा अपना आचरण शुद्ध रखें ॥ ११ ॥

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।
वर्चो मे इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोज्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥
मित्रावरुणा । परि । माम् । अधाताम् । आदित्याः । मा ।
स्वरवः । वर्धयन्तु ॥ वर्चः । मे । इन्द्रः । नि । अनक्तु ।
हस्तयोः । जरत्-श्रष्टिम् । मा । सविता । कृणोतु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणा) स्नेही और श्रेष्ठ दोनों [माता पिता] ने (माम्) मुझे (परि) सब ओर से (अधाताम्) पुष्ट किया है, (आदित्याः) पृथिवी के (स्वरवः) जयस्तम्भ (मा) मुझे (वर्धयन्तु) बढ़ावें । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (मे) मेरे (हस्तयोः) दोनों हाथों के (वर्चः) बल को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे, (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (मा) मुझे (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाला (कृणोतु) करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिन लोगों के माता पिता आदि बड़े लोग श्रेष्ठ और सच्चे प्रेमी होते हैं, वे ही विजयी हो कर संसार में कीर्ति पाते हैं और परमात्मा के अनुग्रह से अपने भुजबल द्वारा श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्ति करते हैं ॥ १२ ॥

१२—(मित्रावरुणा) स्नेहिश्रेष्ठपुरुषौ मातापितरौ (परि) सर्वतः (माम्) विद्यार्थिनम् (अधाताम्) धृतवन्तौ । पोषितवन्तौ (आदित्याः) अदिति-एय । अदितिः पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । अदितेः पृथिव्या एते (मा) माम् (स्वरवः) शृस्निहि० । उ० १ । १० । स्वरु शब्दोपतापयोः—उप्रत्ययः । जयस्तम्भाः (वर्धयन्तु) उन्नयन्तु (वर्चः) शुक्रम् । बलम् (मे) मम (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (हस्तयोः) करयोः (जरदष्टिम्) म० ११ । स्तुत्या सह प्रवृत्तिमन्तम् (मा) माम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमात्मा (कृणोतु) करोतु ॥

यो मुमारं प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयायं प्रथमो लोकसेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥१३॥
यः । मुमारं । प्रथमः । मर्त्यानाम् । यः । प्र-प्रेयायं । प्रथमः ।
लोकम् । एतम् ॥ वैवस्वतम् । सुम्-गमनम् । जनानाम् ।
यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो [मनुष्य] (मर्त्यानाम्)
मनुष्यों के बीच (प्रथमः) मुख्य होकर (मुमार) मर गया, और (यः) जो
(प्रथमः) मुख्य होकर (एतम् लोकम्) इस लोक में (प्रेयाय) आगे बढ़ा ।
(वैवस्वतम्) उस मनुष्यों के हितकारी, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्)
मेल कराने वाले (यमम्) न्यायकारी (राजानम्) राजा को (हविषा) भक्ति के
साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब के हित के लिये आत्मसमर्पण करके उन्नति
करता जावे, सब मनुष्य उस के साथ सदा प्रीति करें ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १८ ॥ १ ॥ ४६ ॥

परा यात पितरु आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दुत्तो अस्मभ्यं द्रविणे ह भद्रं रुयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥१४॥
परा । यातु । पितरुः । आ । च । यातु । अयम् । वः । यज्ञः ।
मधुना । सम्-अक्तः ॥ दुत्तो इति । अस्मभ्यम् । द्रविणा ।

१३—(यः) मनुष्यः (मुमार) मरणं प्राप्तवान् । आत्मानं समर्पितवान्
(प्रथमः) मुख्यः सन् (मर्त्यानाम्) मनुष्याणां मध्ये (यः) (प्रेयाय) अग्रे
गतवान् । प्राप्तवान् (प्रथमः) मुख्यः (लोकम्) संसारम् (एतम्) (वैवस्वतम्)
विवस्वन्तो मनुष्यनाम्—निघ० २ । ३ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इत्यण् ।
विवस्वद्भ्यो मनुष्येभ्यो हितम् (संगमनम्) संगमयितारम् (जनानाम्)
मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं मनुष्यम् (राजानम्) शासकम् (हविषा)
भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

ह । भद्रम् । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । दध्यात् ॥१४॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि रक्षक महात्माओ] (परा) धानता से (यात) चलो, (च) और (आ यात) आओ, (वः) तुम्हारा (अयम्) ह (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (मधुना) विज्ञान के साथ (समक्तः) सर्वथा ख्यात है । (अस्मभ्यम्) हमको (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन और भद्रम्) कल्याण (दत्तो) अवश्य देओ, (च) और (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब वीरों को रखने वाला (रयिम्) धन (दध्यात्) धारण करो ॥ १४ ॥

भावार्थ—विद्वान् माता पिता आदि महापुरुष सन्तान आदि गृहस्थों मिलकर उन को उपदेश करें कि जिस से वे लोग अनेक धनों को प्राप्त होकर पुरुषों का आदर करते रहें ॥ १४ ॥

एवः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोमर्च-
नानाः । विश्वामित्रोऽयं जुमदगिरवन्तु नः कुश्यपो वामदेवः १५

एवः । कक्षीवान् । पुरु-मीढः । अगस्त्यः । श्याव-अश्वः ।
सोमर्चरी । अर्चनानाः ॥ विश्वामित्रः । अयम् । जुमत्-अग्निः ।
मित्रः । अवन्तु । नः । कुश्यपः । वाम-दैवः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (कएवः) बुद्धिमान्, (कक्षीवान्) शासन करने वाला, (पुरुमीढः) बड़ा धनी, (अगस्त्यः) पाप नाशक, (श्यावाश्वः) इन में व्याप्ति वाला (सोमर्चरी) ऐश्वर्य धारण करने वाला, (अर्चनानाः)

१४—(परा) प्राधान्येन (यात) गच्छत (पितरः) हे पित्रादिमहात्मानः च) (आयात) आगच्छत (अयम्) उपस्थितः (वः) युष्माकम् (यज्ञः) पूजनीयव्यवहारः (मधुना) विज्ञानेन (समक्तः) अञ्जु व्यक्तिप्रक्षणकान्ति—तिषु—क्त । सम्यग् व्यक्तीकृतः (दत्तो) दत्त—उ । प्रयच्छतैव (अस्मभ्यम्) द्रविणा) धनानि (इह) (भद्रम्) कल्याणम् (रयिम्) धनम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्ववीरैरुपेतम् (दध्यात्) धारयते ॥

१५—(कएवः) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी (कक्षीवान्) अ० ४ । २६ । ५ । शासनशीलः (पुरुमीढः) अ० ४ । २६ । ४ । बहुधनः (अगस्त्यः) अ० ४ । ७ । १ । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । अग + स्तयै ष्टयै शब्दसंघातयोः—

पूजनीय जीवन वाला, (विश्वामित्रः) सब का मित्र, (जमदग्निः) [शिल्प और यज्ञ आदि में] अग्नि प्रकाश करने वाला, (अत्रिः) सदा प्राप्ति योग्य, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी, (वामदेवः) उत्तम व्यवहार वाला, [ये सब गुणी पुरुष] (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ १५ ॥

भाषार्थ—कर्मवीर बुद्धिमान् पुरुष संसार की रक्षा करने में सदा तत्पर रहें ॥ १५ ॥

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव । शुर्दिर्नो
अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासुः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

विश्वामित्र । जमत्-अग्ने । वसिष्ठ । भरत्-वाज । गोतम ।
वाम-देव ॥ शुर्दिः । नः । अत्रिः । अग्रभीत् । नमः-भिः ।
सु-संशासः । पितरः । मृडता । नः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(विश्वामित्र) हे सब के मित्र ! (जमदग्ने) हे अग्नि के प्रकाश करने वाले ! [शिल्प और यज्ञ में] (वसिष्ठ) हे अत्यन्त श्रेष्ठ ! (भरद्वाज) हे विज्ञान बल के धारण करने वाले ! (गोतम) हे अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले ! (वामदेव) हे श्रेष्ठ व्यवहार वाले !

कप्रत्ययः । अगस्य पापस्य संहन्ता नाशकः (श्यावाश्वः) अ० ४ । २६ । ४ ।
श्यैङ् गतौ—व + अशू व्याप्तौ—क्वन् । श्यावे ज्ञाने अश्वो व्याप्तिर्यस्य सः
(सोमरी) पु प्रसवैश्वर्ययोः—विच् + भर—इति । सोः ऐश्वर्यस्य भरो भरणं
धारणं यस्य सः (अर्चनानाः) अर्चन + अन प्राणने—असुन् । अर्चनमर्चनीयम्
अतो जीवनं यस्य सः (विश्वामित्रः) सर्वेषां मित्रम् (अयम्) (जमदग्निः)
अ० ४ । २६ । ३ । जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य सः
(अत्रिः) अ० १३ । २ । ४ । अत सातत्यगमने—त्रिप् । सदा प्रापणीयो विज्ञान-
वान् (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः
सूक्ष्मदर्शी (वामदेवः) वामः प्रशस्यो देवो व्यवहारकुशलः ॥

१६—(विश्वामित्र) हे सर्वमित्र (जमदग्ने) हे अग्निप्रकाशक (वसिष्ठ)
वसु—ईष्टन् । हे अतिशयेन श्रेष्ठ (भरद्वाज) हे विज्ञानधारक (गोतम) अ० ४ ।
२६ । ६ । गो—तमप् । गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । अतिशयेन स्तोता । यद्वा

[यह तुम सब] (सुसंशासः) उत्तम रीति से सर्वथा शासन करने वाले (पितरः) पितरो ! [रत्नक महात्माओं] (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (शर्दिः) विजयी (अत्रिः) प्राप्ति योग्य ज्ञानी पुरुष ने (नमोभिः) अन्नों के साथ (नः) हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ १६ ॥

भाषार्थ—शूर वीर ज्ञानी महात्मा लोग ही अन्न आदि से वृद्धि करके सब जीवों को सुख पहुंचावें ॥ १६ ॥

कस्ये मृजाना यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतुरं नवीयः ।

आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

कस्ये । मृजानाः । अति । यन्ति । रिप्रम् । आयुः । दधानाः ।

प्र-तुरम् । नवीयः ॥ आ-प्यायमानाः । प्र-जया । धनेन ।

अध । स्याम् । सुरभयः । गृहेषु ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कस्ये) [अपने] शासन में (मृजानाः) शुद्ध करते हुये, (प्रतुरम्) अधिक श्रेष्ठ और (नवीयः) अधिक नवीन (आयुः) जीवन (दधानाः) धारण करते हुये लोग (रिप्रम्) पाप को (अति) उल्लाघ कर (यन्ति) चलते हैं (अध) फिर (प्रजया) प्रजा [सन्तान आदि] से और

गौर्वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । गो + तमु काङ्क्षायाम्—पचायच् । हे विद्याभि-
लाषिन् (वामदेव) हे प्रशस्यव्यवहारकुशल (शर्दिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ ।
११८ । शृधु शब्दकुत्सायाम्, उन्दने प्रसहने च—इन् धस्य दः । शर्धौबलम्—
निघ० २ । ६ । प्रसोढा । अभिभविता । विजेता (अत्रिः) म० १५ । प्राप्तियोग्यो
वद्वान् (अग्रभीत्) अग्रहीत् । गृहीतवान् (नमोभिः) अन्नैः (सुसंशासः)
सु + सम् + शासु अनुशिष्टौ—विट् । सुष्ठु सम्यक् शासकाः (पितरः)
(मृडत) सुखयत (नः) अस्मान् ॥

१७—(कस्ये) अग्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । कस गतिशासनयोः—
यक् । ज्ञाने । शासने (मृजानाः) शोधकाः (अति) अतीत्य । उल्लाङ्घ्य
(यन्ति) गच्छन्ति (रिप्रम्) लीरीडोर्हस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः ।
उ० । ५ । ५५ । रीड् स्वरणे—रप्रत्ययः कुत्सने धातोर्हस्वत्वं पुट् च प्रत्ययस्य ।
रूपे रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निघ० ४ । २१ । पापं कष्टम् (आयुः)

(धनेन) धन से (आप्यायमानाः) बढ़ते हुये (गृहेषु) घरों में हम (सुरभयः) ऐश्वर्यवान् (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि शासक शुद्धाचारी निष्पाप महा-
त्माओं के जीवन को विचार कर अपने को और अपनी प्रजा अर्थात् सन्तान
और राज्य जनों को धनी और ऐश्वर्यवान् बनावें ॥ १७ ॥

अज्जते व्यज्जते समज्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यज्जते ।
सिन्धोः उच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते १८
अज्जते । वि । अज्जते । सम् । अज्जते । क्रतुम् । रिहन्ति ।
मधुना । अभि । अज्जते ॥ सिन्धोः । उत्-श्वासे । पतयन्तम् ।
उक्षणम् । हिरण्य-पावाः । पशुम् । आसु । गृह्णते ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यपावाः) तेज [वा सुवर्ण आदि धन] के रक्षक
लोग (क्रतुम्) कर्म [वा बुद्धि] को (मधुना) विज्ञान के साथ (अज्जते)
शुद्ध करते हैं, (वि अज्जते) विख्यात करते हैं, (सम्) मिलकर (अज्जते)
प्राप्त करते हैं, (अभि अज्जते) सब ओर फैलाते हैं और (रिहन्ति) सराहते
हैं । (सिन्धोः) समुद्र के (उच्छ्वासे) बढ़ाव में (पतयन्तम्) जाते हुये

जीवनम् (दधानाः) धारयन्तः (प्रतरम्) अधिकश्रेष्ठम् (नवीयः) नव-
ईयसुन् । नवीनतरम् (आप्यायमानाः) प्रवर्धमानाः (प्रजया) सन्तानराज्य-
जनरूपया (धनेन) (अध) अथ (स्याम) (सुरभयः) अ० १२ । १ । २३ ।
पुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—अभिच् । ऐश्वर्यवन्तः (गृहेषु) निवासेषु ॥

१८—(अज्जते) अज्ज व्यक्तिप्रदानकान्तिगतिषु । शोधयन्ति (व्यज्जते)
विख्यातं कुर्वन्ति (सम्) संगत्य (अज्जते) गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (क्रतुम्) कर्म—
निघ० २ । १ । प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ६ (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३ । १४ ।
स्तुवन्ति (मधुना) विज्ञानेन (अभि) सर्वतः (अज्जते) विस्तारयन्ति । प्रकट-
यन्ति (उच्छ्वासे) उद्गमे (पतयन्तम्) पत गतौ चुरादिरदन्तः—शतृ । गच्छ-
न्तम् (उक्षणम्) उक्त वृद्धौ—कनिन् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धि कर्मणः—निघ० १२ । ६ ।
वृद्धिकर्तारम् (हिरण्यपावाः) कृगृशृदभ्यो वः । उ० १ । १५५ । हिरण्य + पा
रक्षणे—वप्रत्ययः । हिरण्यस्य तेजसः सुवर्णादिधनस्य वा रक्षकाः (पशुम्)

(उक्षणम्) वृद्धि करने वाले (पशुम्) दृष्टि वाले प्राणी को (आसु) इन [प्रजाओं] के बीच (गृह्णते) गहते हैं [सहारा देते हैं] ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी, धनी, विज्ञानी, महात्मा पुरुष शुभ कर्मों और ज्ञानों को संसार में फैलावे और समुद्र वा आकाश आदि कठिन स्थानों में जाने वाले उद्योगी दृष्टिमान् पुरुषों को सब लोगों के बीच सहाय करें ॥ १८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ८६ । ४३ । और सामवेद में है—
पू० ६ । ७ । ११ तथा उ० ७ । ३ । २१ ॥

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयं शसो हि भूत ।
ते अर्वाणिः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे ह्यमानाः ॥ १८ ॥

यत् । वः । मुद्रम् । पितरः । सोम्यम् । च । तेनो इति ।
सचध्वम् । स्व-यं शसः । हि । भूत ॥ ते । अर्वाणिः । कवयः ।
आ । शृणोतु । सु-विदत्राः । विदथे । ह्यमानाः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रत्नक महात्माओ] (यत्) जो कुछ [कर्म] (वः) तुम्हारा (मुद्रम्) हर्षदायक (च) और (सोम्यम्) सोम्य [प्रियदर्शन उत्तम गुणयुक्त] है, (तेनो) उस से ही [हमें] (सचध्वम्) तुम सींचो [बढ़ाओ] और (हि) अवश्य (स्वयं शसः) अपने आप यश वाले (भूत) होओ । (अर्वाणिः) शीघ्रगामी, (कवयः) बुद्धिमान्, (सुविदत्राः) बड़े धनी और (विदथे) ज्ञान समाज में (ह्यमानाः) पुकारे गये (ते) वे तुम (आ) आकर (शृणोत) सुनो ॥ १८ ॥

अर्जिहृशिकम्यमि० । उ० । १ । २७ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु । पशुः पश्यते—निरु० ३ ।
१६ । द्रष्टारं जीवम् (आसु) दृश्यमानासु प्रजासु (गृह्णते) गृह्णन्ति ॥

१८—(यत्) यत् किञ्चित् कर्म (वः) युष्माकम् (मुद्रम्) स्फायितश्चि-
वश्चि० । उ० २ । १३ । मुद्रं हर्षे—रक् । हर्षकरम् (पितरः) हे रत्नकाः पित्रादयः
(सोम्यम्) प्रियदर्शनम् । उत्तमगुणविशिष्टम् (च) (तेनो) तेन—उ । तेनैव कर्मणा
(सचध्वम्) पच समवाये सेचने च । संगच्छध्वम् । सिञ्चत (स्वयं शसः)
आत्मयशस्विनः (हि) अवश्यम् (भूत) भवत (ते) ते यूयम् (अर्वाणिः) ऋ
गतौ—वनिप् । विज्ञानिनः । शीघ्रगामिनः (कवयः) मेधाविनः (आ) आगत्य
(शृणोत) शृणुत (सुविदत्राः) बहुधनाः (विदथे) ज्ञानसमाजे (ह्यमानाः)

भावार्थ—विद्वान् महात्मा लोग अपने शान्तिदायक कर्मों से संसार की रक्षा करके यशस्वी होंगे ॥ १६ ॥

ये अत्रये अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्यासद्यस्मिन् बर्हिषि माद-
यध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

ये । अत्रयः । अङ्गिरसः । नव-ग्वाः । इष्ट-वन्तः । राति-
षाचः । दधानाः ॥ दक्षिणा-वन्तः । स-कृतः । ये । ऊं इति ।
स्थ । आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् ॥ ॥२०॥(१४)

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अत्रयः) सदा प्राप्ति योग्य, (अङ्गिरसः) ज्ञान-
वान्, (नवग्वाः) स्तुति योग्य चलने वाले, (इष्टवन्तः) यज्ञ, तप, वेदाध्ययन
आदि वाले, (रातिषाचः) दानों की वर्षा करने वाले और (दधानाः) पोषण
करने वाले [हो] । (उ) और (ये) जो तुम (दक्षिणावन्तः) दक्षिणा [प्रतिष्ठा
के दान] वाले (सुकृतः) सुकर्मों जन (स्थ) हो, वे तुम (अस्मिन्) इस
(बर्हिषि) उत्तम आसन पर (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) आनन्द करो । २० ।

भावार्थ—जो विद्वान् महर्षि विद्याप्रचारक धर्मात्मा और बहु प्रतिष्ठित
हों, गृहस्थ आदि लोग सत्कार करके उनको प्रसन्न करें ॥२०॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासुः क्षामा भिन्दतो अरुणीरपव्रन् २१

२०—(ये) यूयम् (अत्रयः) सदा प्राप्तव्याः (अङ्गिरसः) अग्नि गतौ-
असि, इरुडागमः । ज्ञानिनः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । ए स्तुतौ—अप् +
गभ्लु गतौ-ड्वप्रत्ययः । स्तोतव्यचरित्राः (इष्टवन्तः) अ० २ । १२ । ३ । यज्ञ-
तपोवेदाध्ययनादिमन्तः (रातिषाचः) भजो एवः । पा० ३ । २ । ६२ । इति बाहु-
लकात् षच सेचने— एव । धनानां वर्षयितारः (दधानाः) पोषणं कुर्वाणाः
(दक्षिणावन्तः) प्रतिष्ठादानोपेताः (सुकृतः) सुकर्मणिः (ये) (उ) चार्थे (स्थ)
भवथ (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमासने (मादयध्वम्)
हृष्टा भवत ॥

अध॑ । यथा॑ । नः॑ । पितरः॑ । परासः॑ । प्रत्नासः॑ । अग्ने॑ ।
 ऋ॒तम् । आ-शुशानाः॑ ॥ शुचि॑ । इत् । अयन् । दीध्यतः॑ ।
 उक्थ॑-शसः॑ । क्षाम॑ । भिन्दन्तः॑ । अरुणीः॑ । अप॑ । व्रन् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (अध) फिर (यथा) जैसे (नः)
 हमारे (परासः) उत्तम (प्रत्नासः) प्राचीन (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा]
 (ऋतम्) सत्य धर्म को (आशशानाः) अच्छे प्रकार सूक्ष्म करने वाले [हुये हैं]
 [वैसे ही] (दीध्यतः) प्रकाशमान, (उक्थशसः) प्रशंसनीय कर्मों की स्तुति करने
 वालों ने (शुचि) पवित्र कर्म को (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया है, और (क्षाम)
 हानि को (भिन्दन्तः) तोड़ते हुये उन्होंने (अरुणीः) प्राप्ति योग्य क्रियाओं को
 वैसेही (अपव्रन्) खोला है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पहिले विद्वान् लोग पिता आदि महात्माओं का
 अनुकरण करके विघ्नों को हटा कर उपकारी कामों का प्रचार करते आये हैं,
 वैसे ही सब विद्वानों को करना चाहिये ॥ २१ ॥

मन्त्र २१-२३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं-४।२।१६-१८ और यह मन्त्र
 कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है-१६।६६ ॥

२१—(अध) अथ । अनन्तरम् (यथा) येन प्रकारेण (नः) अस्माकम्
 (पितरः) (परासः) पराः । उत्कृष्टाः (प्रत्नासः) प्रत्नाः । प्राचीनाः (अग्ने) हे
 विद्वन् (ऋतम्) सत्यधर्मम् (आशशानाः) आङ् + शो तनूकरणे यद्वा शश
 सुतगतौ—कानच् । सूक्ष्मीकुर्वाणाः (शुचि) पवित्रं कर्म (इत्) एव (अयन्)
 इण् गतौ—लङ् । प्राप्तवन्तः (उक्थशसः) मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो
 एवन् । पा० ३ । २ । ७१ । उक्थ + शंसु स्तुतौ—एवन् , नकारलोपः, पदकाले
 ह्रस्वश्छान्दसः । उक्थ्यानां प्रशंसनीयकर्मणां शंसितारः स्तोतारः (क्षाम) सर्वधा-
 तुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । क्षै क्षये—मनिन् । क्षयम् । हानिम् (भिन्दन्तः)
 छिन्दन्तः । विदारयन्तः (अरुणीः) अर्तेश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतौ—उनन्
 चित् , डीप् । प्राप्तव्याः क्रियाः (अप व्रन्) वृणोतेर्लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशवृ० ।
 पा० २ । ४ । ८० । इति चलेर्लुक् । अपावृणवन् । प्रकाशितवन्तः ॥

सुकर्माणिः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
 शुचन्तो अग्निं ववृधन्तु इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् २२
 सु-कर्माणिः । सु-रुचः । देव-यन्तः । अयः । न । देवाः ।
 जनिम । धमन्तः ॥ शुचन्तः । अग्निम् । ववृधन्तः । इन्द्रम् ।
 उर्वीम् । गव्याम् । परि-सदम् । नः । अक्रन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सुकर्माणिः) पुण्यकर्म करने वाले, (सुरुचः) बड़ी प्रीति वाले, (देवयन्तः) उत्तम गुणों को चाहने वाले, (अयः नः) सुवर्ण के समान (जनिम) जन्म [जीवन] को (धमन्तः) [धमन रूप तप से] शुद्ध करते हुये, (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (शुचन्तः) प्रकाशित करते हुये और (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (ववृधन्तः) बढ़ाते हुये (देवाः) विद्वानों ने (नः) हमारे लिये (उर्वीम्) विस्तृत, (गव्याम्) वाणीमय (परिषदम्) परिषद [सभा] (अक्रन्) बनाई है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पवित्र वेदों के विचार से पुण्यात्मा पुरुषों ने ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा संसार में हमारी उन्नति के अनेक मार्ग दिखाये हैं, उसी प्रकार हम लोग भी स्वाध्याय आदि से अपना जन्म उच्च बनावे ॥ २२ ॥

आ यथेवं क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्यग्रः ।
 मर्तासश्चिदुर्वशीरकृमन् वृधे चिदय उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
 आ । यथा-इव । क्षु-मति । पश्वः । अख्यत् । देवानाम् ।

२२—(सुकर्माणिः) पुण्यकर्मकर्तारः (सुरुचः) बहुप्रीतयः (देवयन्तः) देवान् शुभगुणान् कामयमानाः (अयः) अयो हिरण्यनाम—निघ० १। २। सुवर्णम् (नः) यथा (देवाः) विद्वांसः (जनिम) जन्म । जीवनम् (धमन्तः) धमा शब्दाग्निसंयोगयोः—शतृ । धमनेन शोधयन्तः । तपसा निर्मलीकृतवन्तः (शुचन्तः) दीपयन्तः (अग्निम्) तेजः । शारीरिकात्मिकबलमित्यर्थः (ववृधन्तः) वर्धयन्तः (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (उर्वीम्) विस्तृताम् (गव्याम्) वाङ्मयाम् । विद्यायुक्ताम् (परिषदम्) सभाम् (नः) अस्मभ्यम् (अक्रन्) करोतेलुङ् । मन्त्रे घसहरणशवृ० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेलुक् । अकार्षुः ॥

जनिम । अन्ति । उग्रः ॥ मर्तासः । चित् । उर्वशीः । अकृ-
प्रन् । वृधे । चित् । अर्यः । उपरस्य । आयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(उग्रः) तेजस्वी पुरुष ने (क्षमति) अन्न [घास आदि]
वाले स्थान में (पश्वः) पशुओं के (यूथा इव) यूथों के समान (देवानाम्)
विद्वानों के (जनिम) जन्म [जीवन] को (अन्ति) समीप से (आ) सब
प्रकार (अख्यत्) देखा है । (मर्तासः) मनुष्यों ने (चित्) भी (उर्वशीः)
बहुत फैली हुयी क्रियाओं को (अकृप्रन्) विचारा है, (चित्) जैसे (अर्यः)
वैश्य (उपरस्य) समीपस्थ (आयोः) आय की (वृधे) बढ़ती के लिये
[विचारता है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—प्रतापी बुद्धिमान् पुरुष विद्वानों के आचरणों को इस प्रकार
ध्यान से देखता है, जैसे ग्वाला चरते हुये पशुओं को इधर उधर जाने से रोक
कर देखता रहता है । और जैसे वैश्य अपने आय को उन्नति सोचता है, वैसे
ही सब मनुष्य उत्तम विद्याओं और क्रियाओं का प्रचार करें ॥ २३ ॥

अकर्म ते स्वपंसो अभूम् ऋतमवस्त्रनुषसो विभातीः ।

विश्वं तद् भुद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदये सुवीरः । २४

अकर्म । ते । सु-अपंसः । अभूम् । ऋतम् । अवस्त्रन् । उषसः ।

२३—(आ) समन्तात् (यूथा) यूथानि । समूहान् (क्षमति) क्षु,
अन्नम्-निघ० २ । ७ । अन्नवति । तृणयुक्ते स्थाने (पश्वः) बहुवचनस्यैकव-
चनम् । पशोः । पशूनाम् (अख्यत्) चक्षिङ् दर्शने । अदर्शत् (देवानाम्) विदुषाम्
(जनिम) जन्म । जीवनम् (अन्ति) अन्तिके । समीपे (उग्रः) तेजस्वी
मनुष्यः (मर्तासः) मनुष्याः (चित्) अपि (उर्वशीः) उरु + अशूङ् व्याप्तौ—क,
गौरादित्वाद् डीष् । उर्वशी पदनाम—निघ० ४ । २ । तथा ५ । ५ । बहुव्यापिकाः
क्रियाः (अकृप्रन्) कृपू सामर्थ्ये कल्पने च—लुङि च्लेः अङ् आदेशः । बहुलं
छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । इति रुडागमः । कल्पनया समर्थितवन्तः । विचारिवन्तः
(वृधे) वर्धनाय (चित्) यथा (उपरस्य) उप + रमु क्रीडायाम्—ङ । समी-
पस्थस्य (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः । पा० ३ । १ । १०३ । अ गतौ—यत् । वैश्यः
(आयोः) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । गतस्य । लब्धस्य । आयस्य ॥

वि-भातीः ॥ विश्वम् । तत् । भद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः ।
बृहत् । वृद्धम् । विदथे । सु-वीराः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे लिये [उत्तम कर्म] (अकर्म)
हम ने किये है, (स्वपसः) अच्छे कर्म वाले (अभूम) हम हुये हैं, (विभातीः)
प्रकाश करती हुयी (उषसः) प्रभात वेलाओं ने (ऋतम्) सत्य धर्म में
(अवस्रन्) निवास किया है । (यत्) जो कुछ (भद्रम्) कल्याण कारक
कर्म है, (तत्) उस (विश्वम्) सब की (देवाः) विद्वान् लोग (अवन्ति) रक्षा
करते हैं, (सुवीराः) अच्छे वीरों वाले हम (विदथे) ज्ञान साम्राज्य में (बृहत्)
बढ़ती करने वाला [वचन] (वदेम) बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ—जैसे प्रभात वेलायें अन्धकार नाश करके प्रकाश करती हैं,
वैसे ही सत्य धर्म असत्य का नाश करके प्रकाशमान होता है, विद्वान् लोग उस
सत्य का ग्रहण करके और सभाओं में बैठकर सर्ववृद्धि का विचार करें ॥ २४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है— ४ । २ । १६ और उत्तरार्द्ध ऋग्वेद—
२ । २३ । १६ और यजुर्वेद—३४ । ५८ ॥

मन्त्राः २५—२६ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ २५ निचृदार्षी जगती; २६, २८ भुरिगार्षी जगती; २७
आर्षी जगती; २६ विराडार्षी जगती ॥

सर्वदिक्षु रक्षोपदेशः—सब दिशाओं में रक्षा का उपदेश ॥

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी

२४—(अकर्म) मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । चलेर्लुक् । वयं कृतवन्तः
श्रेष्ठकर्माणि (ते) तुभ्यम् (स्वपसः) अपः कर्मनाम-निघ ० २ । १ ।
धार्मिककर्माणः (अभूम (ऋतम्) सत्यधर्मम् (अवस्रन्) वस निवासे—
लङ्, रुडागमः । निवसन्ति स्म (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) विभात्यः ।
प्रकाशमानाः (विश्वम्) सर्वम् (तत्) (भद्रम्) शुभं कर्म (यत्) अवन्ति)
रक्षन्ति (देवाः) विद्वांसः (बृहत्) वृद्धिकरं वचनम् (वदेम) ब्रूयाम (विदथे)
ज्ञानसमाजे (सुवीराः) श्रेष्ठवीरैरुपेताः ॥

द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हत-
भागा इह स्थ ॥ २५ ॥

इन्द्रः । मा । मरुत्वान् । प्राच्याः । दिशः । पातु । बाहु-
च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-
कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ २५

भाष्यार्थ—(मरुत्वान्) शूरों का स्वामी (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् जग-
दीश्वर (प्राच्याः) पूर्व वा सामने वाली (दिशः) दिशा से (मा) मेरी
(पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी)
पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि
के सहारे पर, पाणियों की रक्षा करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले,
(पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं
(ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह)
यहां पर (स्थ) हो ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा पूर्व आदि और सामने वाली आदि दिशाओं में
शूरों को बल देकर रक्षा करता है, जैसे चतुर लोगों के उद्योग से पृथिवी सूर्य
के आकर्षण और प्रकाश आदि द्वारा वृष्टि ताप आदि पाकर अन्न आदि उत्पन्न
करके रक्षा करती है, सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदी-
श्वर की भक्ति करें ॥ २५ ॥

२५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (मा) माम् (मरुत्वान्)
अ० १।२०।१। मरुतां शूराणां स्वामो (प्राच्याः) पूर्वायाः । अभिमुखीभूतायाः
सकाशात् (पातु) रक्षतु (बाहुच्युता) च्यु सहने हसने च, अन्तर्गतणिजर्थः ।
बाहुभिर्भुजैश्चयाविता उत्साहिता (पृथिवी) (द्याम्) सूर्यम् । सूर्यस्याकार्षण-
प्रकाशादिकमित्यर्थः (इव) यथा (उपरि) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु
त्रिषु ० । वा ० पा० २ । ३ । २ । इत्यनाम्रेडितान्ते ऽ पि उपरियोगे द्यामित्यस्य
द्वितीया । आश्रित्येत्यर्थः (लोककृतः) लोकानां समानानां कर्तृन् (पथिकृतः)
सन्मार्गाणां कर्तृन् दर्शकान् (यजामहे) पूजयामहे (ये) पुरुषाः (देवानाम्)
विदुषां मध्ये (हुतभागाः) हु दानादानादनेषु-क्त । हुता आप्ता गृहीता भागा
यैस्ते (इह) संसारे (स्थ) भवथ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी
व्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां
हुतभागा इह स्य ॥ २६ ॥

धाता । मा । निः-ऋत्याः । दक्षिणायाः । दिशः । पातु ।
बाहु-च्युता । पृथिवी । व्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः ।
पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्य २६

भाषार्थ—(धाता) धारण करने वाला परमात्मा (दक्षिणायाः) दक्षिण
वा दाहिनी (दिशः) दिशा की (निर्ऋत्याः) महाविपत्ति से (मा) मेरो (पातु)
रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी.....[मन्त्र २५] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २६ ॥

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी
व्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत-
भागा इह स्य ॥ २७ ॥

अदितिः । मा । आदित्यैः । प्रतीच्याः । दिशः । पातु ।
बाहु-च्युता । पृथिवी । व्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः ।
पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह ।
स्य ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्ड परमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रती
ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (मा)

२६—(धाता) सर्वधारकः परमात्मा (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्तेः सका-
शात् (दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तस्थायाः (दिशः) दिक्
सम्बन्धिन्याः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

२७—(अदितिः) अखण्डपरमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रतिब्रह्म-

मेरी (पातु) रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी[म० २५] ॥ २७ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २७ ॥

सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी
व्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत-
भागा इह स्थ ॥ २८ ॥

सोमः । मा । विश्वैः । देवैः । उदीच्याः । दिशः । पातु ।
बाहु-च्युता । पृथिवी । व्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः ।
पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह ।
स्थ ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सर्वजनक परमात्मा (विश्वैः) सब (देवैः)
उत्तम गुणों के साथ (उदीच्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिशः) दिशा से
(मा) मेरी (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी.....
[मन्त्र २५] ॥ २८ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २८ ॥

धूर्ता ह त्वा धुरुणो धारयाता ऊर्ध्व भानुं सविता व्यामि-
वोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा
इह स्थ ॥ २८ ॥

धूर्ता । हु । त्वा । धुरुणः । धारयातै । ऊर्ध्वम् । भानुम् ।
सविता । व्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः पथि-कृतः ।

चारिभिः (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः । पश्चाद्भागस्थायाः (दिशः) दिक्सका-
शात् । अन्यत् पूर्ववत्-म० २५ ॥

२८—(सोमः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) उत्तम-
गुणैः (उदीच्याः) उत्तरायाः । वामभागस्थायाः । अन्यत् पूर्ववत्-म० २५ ॥

यजामहे । ये । देवानां । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(धर्ता) पोषण करने वाला (धरुणः) स्थिर स्वभाव वाला परमात्मा (ह) निश्चय करके (त्वा) तुम्हें (ऊर्ध्वम्) ऊंचा (धारयातै) रखे, (इव) जैसे (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (भानुम्) सूर्य को (द्याम् उपरि) आकाश पर [रखता है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां (स्थ) हो ॥ २८ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वपोषक, दृढ़ स्वभाव वाले पुरुषार्थी जनों को उच्च स्थान देता है, जैसे वह अनेक लोकों के आकर्षक, पोषक सूर्य को आकाश में ऊंचा रखता है । सब मनुष्य सर्वहितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २८ ॥

मन्त्राः ३०—३७ ॥

ईश्वरो देवता ॥ ३० अतिजगती ; ३१ विराट् शकरी ; ३२—३५ भुरि-गतिजगती ; ३६ आसुर्यनुष्टुप् ३७ आसुरी गायत्री ॥

सर्वत्रपरमेश्वरधारणोपदेशः—सर्वत्र परमेश्वर के धारण का उपदेश ॥

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

प्राच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

२८—(धर्ता) पोषकः (ह) निश्चयेन (त्वा) (धरुणः) कृवृदारिभ्य
उनन् । उ० ३ । ५३ । धृङ् अवस्थाने—उनन् । स्थिरस्वभावः परमात्मा (धारयातै)
लेटि रूपम् । धारयेत् (ऊर्ध्वम्) उन्नतम् (भानुम्) सूर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः
परमेश्वरः (द्याम्) आकाशम् (इव) यथा (उपरि) म० २५ । आभित्येत्यर्थः ।
अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (प्राच्याम्) पूर्व वा सामने वाली (दिशि)
दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति
के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं (आ) सब ओर से (दधामि) मैं [मनुष्य अपने
में] धारण करता हूँ, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी
(इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे
पर], [अपने में तुझे धारण करती है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले,
(पृथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते
हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले
(इह) यहाँ पर (स्थ) हो ॥ ३० ॥

भावार्थ—सर्वथा परिपूर्ण परमेश्वर से पूर्व आदि और सामने वाली
आदि दिशाओं में मनुष्य अपने में आत्मशक्ति पाकर पुरुषार्थ करता है, जैसे
पृथिवी सूर्य के आकर्षण आदि में रह कर परमेश्वर की दी हुई आत्मशक्ति से
उपकार करती है । सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर
की भक्ति करें ॥ ३० ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामि उपरि । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥

दक्षिणायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सुम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३०—(प्राच्याम्) पूर्वस्याम् । अभिमुखीभूतायाम् (दिशि) (पुरा) पृ
पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् ।
पूर्त्या (संवृतः) सम्यग् वेष्टितः (स्वधायाम्) आत्मधारणशक्तौ (आ)
समन्तात् (दधामि) धारयामि । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्थ ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा में (त्वा)
तुझे [मन्त्र ३०] ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३१ ॥

प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥

प्रतीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि॥
लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्थ ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में
(त्वा) तुझे.....[म० ३०] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३२ ॥

उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः । पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥

उदीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ॥ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि॥

३१—(दक्षिणायाम्) दक्षिणहस्तस्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३२—(प्रतीच्याम्) पश्चिमायाम् । पश्चाद्भागे वर्तमानायाम् । अन्यत्
पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्य ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(उदीच्याम्) उत्तर वा बायीं (दिशि) दिशा में (त्वा)
तुझे.....[म० ३०] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३३ ॥

ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ ३४ ॥

ध्रुवायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि॥
लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्य ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवायाम्) स्थिर वा नीचे वाली (दिशि) दिशा में (त्वा)
तुझे.....[मन्त्र ३०] ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३४ ॥

ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहु-
च्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् ।
आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि॥

३३—(उदीच्याम्) उत्तरस्याम् । वामहस्तवर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३४—(ध्रुवायाम्) स्थिरायाम् । अधो वर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-
भागाः । इह । स्थ ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि)
दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति
के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं [मनुष्य] (आ) सब ओर से (दधामि)
धारण करता हूँ, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी
(इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के
सहारे पर, [अपने में तुझे धारण करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले,
(पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम
पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग
लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३५ ॥

ध॒र्ता॑सि ध॒रुणो॑ऽसि व॑स॒गो॑ऽसि ॥ ३६ ॥

ध॒र्ता । अ॒सि । ध॒रुणः॑ । अ॒सि । व॑स॒गः । अ॒सि ॥ ३६ ॥

उ॒द॒पू॒र॑सि म॒धुपू॒र॑सि वा॒तपू॒र॑सि ॥ ३७ ॥

उ॒द॒-पूः । अ॒सि । म॒धु-पूः । अ॒सि । वा॒त-पूः । अ॒सि ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (धर्ता) तू धारण करने वाला (असि) है,
(धरुणः) तू स्थिर स्वभाव वाला (असि) है और (वसगः) तू सेवनीय
व्यवहारों का प्राप्त कराने वाला (असि) है ॥ ३६ ॥ (उदपूः) तू जल से
शोधने वाला [वा जल से अग्रगामी] (असि) है, (वातपूः) तू वायु से

३५—(ऊर्ध्वायाम्) उपरि स्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(धर्ता) धारकः परमेश्वरः (असि) (धरुणः) म० २६ स्थिरस्वभावः
(असि) (वसगः) वृत्तवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । वन संभक्तौ—सप्रत्ययः +
गमयतेर्ङः । वंसानां सेवनीयानां व्यवहाराणां गमयित्वा प्रापयित्वा (असि) ॥

३७—(उदपूः) उदक + पूज शोधने—क्विप्, वा पुर अग्रगमने—क्विप् ।
जलेन शोधयित्वा जलादग्रगामी वा (असि) (मधुपूः) मधु + पू पालन पूर-

पालने वाला [वा वायु से अग्रगामी] (असि) है, (मधुपूः) तू मधुर [स्वास्थ्य वर्धक] रस से पूर्ण करने वाला [वा ज्ञान से अग्रगामी] (असि] है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा को सब दिशाओं में व्यापक जानकर दृढ़ स्वभाव होवे और शुद्ध जल, वायु, अन्न आदि से शरीर के धातुरसों को पुष्ट करे । वह सर्वपोषक परमात्मा जल आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों से और ज्ञानियों के ज्ञान से अधिक आगे है ॥ ३६, ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४१ ॥

स्त्रीपुरुषौ देवते ॥ ३८ विराट् त्रिष्टुप् ; ३९ भुरिक् पङ्क्तिः ; ४० त्रिष्टुप् ; ४१ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इ॒तश्च॑ मा॒मु॒तश्चा॑व॒ता य॒मे इ॒व॒ य॒त॑मा॒ने य॒दै॒तम् । प्र॒ वां
भ॒र॒न् मा॒नु॒षा दे॒व॒य॒न्तो॒ आ सी॑द॒तां स्व॒सु॒ लो॒कं वि॑दा॒ने ॥३८॥
इ॒तः । च॒ । मा॒ । अ॒मु॒तः । च॒ । अ॒व॒ता॒म् । य॒मे इ॒वे॒ति॒ य॒मे-
इ॒व॒ । य॒त॑मा॒ने इ॒ति॒ । य॒त् । ऐ॒त॒म् ॥ प्र॒ । वा॒म् । भ॒र॒न् ।
मा॒नु॒षाः । दे॒व॒-य॒न्तः॑ । आ॒ । सी॒द॒ता॒म् । स्व॒म् । ऊ॒ इ॒ति॒ ।
लो॒क॒म् । वि॑दा॒ने इ॒ति॒ ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों] (इतः) यहां से [समीप में वा इस जन्म में] (च च) और (अमुतः) वहां से [दूर में वा परजन्म में] (मा) मुझे (अवताम्) बचावे, (यत्) क्योंकि (यमे इव) दो नियम

णयोः—किप्, वा पुर—किप् । मधुरस्य स्वास्थ्यवर्धकस्य रसस्य पूरयिता मधुनो ज्ञानादग्रगामी वा (असि) (वातपूः) वात + पू—किप्, वा पुर—किप् । वातेन वायुना पालयिता वायोः सकाशादग्रगामी वा (असि) ॥

३८—(इतः) अस्मात् स्थानाल्लोकाद् वा (च) (मा) माम् (अमुतः) तस्माद् दूरदेशात् परलोकाद् वा (च) (अवताम्) रक्षतां भवन्तौ (यमे) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति सुपः शे । इत्यादेशः । यमौ । नियमवन्तौ

बालों के समान (यतमाने) यत्न करते हुये तुम दोनों (पेतम्) चले हो ।
(देवयन्तः) उत्तम गुण चाहने वाले (मानुषाः) मननशील मनुष्यों ने
(वाम्) तुम दोनों को (प्र) अच्छे प्रकार (भरन्) पाला है, (स्वम्)
अपने (लोकम्) स्थान को (उ) अवश्य (विदाने) जानते हुये [आप
दोनों] (आ) आकर (सीदताम्) बैठें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर समीप और दूर में तथा
लोक और परलोक में सुख के लिये यत्न करके परस्पर अपनी सत्ता को उज्ज्वल
बनावें ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । २ ॥

स्वासस्थे भवतुमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्य नमोभिः । वि
श्लोकं एति पुष्ट्यैव सुरिः शुश्रुवन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३८॥
स्वासस्थे इति सु-आसस्थे । भवतुम् । इन्दवे । नः । युजे ।
वाम् । ब्रह्म । पूर्यम् । नमः-भिः ॥ वि । श्लोकः । एति ।
पुष्ट्या-इव । सुरिः । शुश्रुवन्तु । विश्वे । अमृतासः । एतत् ॥३८॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (इन्दवे) ऐश्वर्य के लिये (स्वासस्थे) अच्छे
आसन पर बैठने वाले (भवतम्) तुम दोनों होओ, (वाम्) तुम दोनों के
लिये (पूर्यम्) पहिले [योगियों] करके प्रत्यक्ष किये (ब्रह्म) बड़े परमेश्वर
का (नमोभिः) सत्कारों के साथ (युजे) मैं ध्यान करता हूँ । (श्लोकः)

(इव) यथा (यतमाने) सुपः शे । यतमानौ व्याप्रियमाणौ (यत्) यतः (पेतम्)
अगच्छतं युवाम् (प्र) प्रकर्षण (वाम्) युवाम् (भरन्) अभरन् । पालितवन्तः
(मानुषाः) मननशीलाः पुरुषाः (देवयन्तः) दिव्यगुणान् कामयमानाः
(आ) आगत्य (सीदताम्) उपविशतां भवन्तौ (स्वयम्) स्वकीयम् (उ)
अवश्यम् (लोकम्) स्थानम् (विदाने) सुपः शे । विदाना । जानन्तौ ॥

३८—(स्वासस्थे) सु + आस उपवेशने—घञ् + तिष्ठतेः—क । सुपः
शे । स्वासस्थौ । सुखासने तिष्ठन्तौ युवाम् (भवतम्) (इन्दवे) ऐश्वर्याय
(नः) अस्माकम् (युजे) आत्मनि समादधे (वाम्) युवयोर्हिताय (ब्रह्म)
ब्रह्मन्तं व्यापकं परमात्मानम् (पूर्यम्) पर्वयोगिसिः प्रत्यक्षीकृतम् (नमोभिः)

वेदवाणी में कुशल (सूरिः) विद्वान् (पथ्या इव) सुन्दर मार्ग के समान (वि) विविध प्रकार से (एति) चलता है, (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [पुरुषार्थी] लोग (एतत्) यह (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—सब स्त्री पुरुष पूर्वज योगियों के समान योगाभ्यास से आत्मशुद्धि करके परमात्मा को प्राप्त हों, और जैसे विद्वानों का बनाया मार्ग सब यात्रियों को सुख दायक होता है, वैसे ही वेद कुशल विद्वानों का विद्या प्रचार सब को आनन्द देता है ॥ ३६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । १, २ तथा यजुर्वेद में—११ । ५ ॥

त्रीणि पदानि रूपो अन्वरोहचतुष्पदीमन्वैतद्ब्रूतेन । अक्षरेण प्रति मीमंते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

त्रीणि । पदानि । रूपः । अनु । अरोहत् । चतुः-पदीम् । अनु । एतत् । ब्रूतेन ॥ अक्षरेण । प्रति । मीमंते । अर्कम् । मृतस्य । नाभौ । अभि । सम् । पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

भाषार्थ—(रूपः) गतिमान् पुरुष (त्रीणि) तीनों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] (पदानि) पदों [अधिकारों] के (अनु) पीछे पीछे (अरोहत्) प्रसिद्ध हुआ है, और (ब्रूतेन) ब्रत [ब्रह्मचर्य आदि नियम] के साथ (चतुष्पदीम्) चारों [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] में अधिकार वाली वेद-

सत्कारैः (वि) विविधम् (श्लोकः) श्लोक—अर्श आद्यच् । श्लोको वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणीकुशलः (एति) गच्छति (पथ्या) पथे मार्गाय हिता । सुगमा सृतिः (इव) यथा (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः । पुरुषार्थिनः । यशस्विनः पुरुषाः (एतत्) इदं वचनम् ॥

४०—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (पदानि) प्राप्तव्यानि भूतभविष्यद्-वर्तमानवस्तूनि (रूपः) च्युवः किञ्च । उ० ३ । २४ । रुङ् गतिरेषणयोः, रु शब्दे वा—पप्रत्ययः, कित् । गतिमान् । स्तोतव्यः पुरुषः (अनु) अनुसृत्य (अरोहत्) प्रादुरभवत् (चतुष्पदीम्) चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थेषु

वाणी के (अनु) पीछे पीछे (ऐतत्) चला है । वह (अक्षरेण) व्यापक वा अविनाशी [ओ३म् परमात्मा] के साथ (अर्कम्) पूजनीय विचार को (प्रति) प्रत्यक्ष (मिमीते) कर्ता है, और (ऋतस्य) सत्य धर्म की (नाभौ) नाभि में [सब को] (अभि) सब ओर से (सम्) यथावत् (पुनाति) शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—चलते फिरते उद्योगी स्त्री पुरुष भूत, भविष्यत् और वर्तमान का विचार करके वेदद्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होवे और परमात्मा की आज्ञा का पालन करके सब मनुष्यों को शुभ मार्ग पर चलावे ॥ ४० ॥

१—मन्त्र ४० और ४१ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १३ । ३, ४ ॥

२—संहिता के (ऐतत्) पद के स्थान पर पदपाठ में (एतत्) पद विचारणीय है ॥

देवेभ्यः कस्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।

बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तुन्वमा रिरेच ॥४१॥

देवेभ्यः । कम् । अवृणीत । मृत्युम् । प्र-जायै । किम् । अमृ-तम् । न । अवृणीत ॥ बृहस्पतिः । यज्ञम् । अतनुत ।

ऋषिः । प्रियाम् । यमः । तुन्वम् । आ । रिरेच ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—[जिस ने] (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (कम्) सुख से (मृत्युम्) मृत्यु [अहङ्कारत्याग] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया है, उस ने (प्रजायै) प्रजा के लिये (किम्) क्या (अमृतम्) अमृत [अमरपन

पदमधिकारो यस्यास्तां वेदवाणीम् (अनु) अनुसृत्य (ऐतत्) इण् गतौ—लङ्, तकारश्छान्दसः । ऐत् । प्राप्नोत् (व्रतेन) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणेन (अक्षरेण) अ० ६ । १० । २ । अशू व्याप्तौ—सर । यद्वा नञ् + क्षर संचलने—अच् । व्यापकेन विनाशरहितेन, ओ३म् इति प्रणवेन सह (प्रति) प्रत्यक्षम् (मिमीते) माङ् माने । करोति (अर्कम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायाम्—क, यद्वा, अर्च—घञ्, कुत्वम् । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति—निरु० ५ । ४ । पूजनीयं विचारम् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (नाभौ) मध्यस्थाने (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (पुनाति) शोधयति सर्वान् ॥

४१—(देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (कम्) सुखेन (अवृणीत) अङ्गीकृतवान् (मृत्युम्) मरणम् । अहङ्कारत्यागम् । आत्मसमर्पणम् (प्रजायै) मनुष्या-

मोक्षपद] को (न) नहीं (अवृणीत) अङ्गीकार किया ? । (बृहस्पतिः) उस बड़े बड़े व्यवहारों के रक्षक (ऋषिः) सन्मार्गदर्शक, (यमः) नियम वाले पुरुष ने (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (अतनुत) फैलाया है और (प्रियाम्) हित करने वाली (तन्वम्) उपकार क्रिया को (आ) सब ओर से (रिरिच) संयुक्त किया है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति के लिये अहङ्कार, अर्थात् आपा छोड़ आत्मदान करते हैं, वे ही संसार को मोक्षपद देते और पूजनीय व्यवहारों को फैलाकर अवश्य महान् उपकार करते हैं ॥ ४१ ॥

मन्त्राः ४२—४८ ॥

पितरो देवताः ॥ ४२, ४३, ४८ त्रिष्टुप् ; ४४, ४६ निचृज् जगती; ४५ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४७ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

त्वमग्ने ईडितो जातवेदोऽवाह्व्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादाः
पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥

त्वम् । अग्ने । ईडितः । जात-वेदः । अवाट् । हव्यानि ।
सुरभीणि । कृत्वा ॥ प्र । अदाः । पितृ-भ्यः । स्वधया । ते ।
अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्र-यता । हवींषि ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनी (अग्ने) विद्वान् ! (ईडितः) प्रशंसित (त्वम्) तू ने (हव्यानि) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को (सुरभीणि)

दिकृपायै (किम्) (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षपदम् (न) निषेधे (अवृणीत) स्वीकृतवान् (बृहस्पतिः) बृहतां व्यवहाराणां रक्षकः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (अतनुत) विस्तारितवान् (यमः) सन्मार्गदर्शकः (प्रियाम्) हितकरीम् (यमः) नियमवान् । जितेन्द्रियः पुरुषः (तन्वम्) उपकारक्रियाम् (आ) समस्तात् (रिरिच) रिचिर् विरेचने, रिच वियोजनसम्पर्चनयोः—लिट् । संयोजितवान् ॥

४२—(त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (ईडितः) प्रशंसितः (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (अवाट्) घटतेर्लुङ्, इडागमाभावे

पेश्वर्य युक्त (कृत्वा) करके (अवाद्) पहुंचाया है । (पितृभ्यः) पितरों [पिता आदि रक्षक महात्माओं] को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये] (हवीषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये हैं, (ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं, (देव) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू [भी] (अद्धि) खा ॥ ४२ ॥

भावार्थ—पुत्रादि सन्तान उत्तम उत्तम पदार्थों से पितरों की सेवा करें और प्रयत्न से शुद्ध बनाये हुये भोजन उन्हें खिलावें और आप खावें, जिस से सब स्वस्थ रहकर आनन्द भोगें ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १२ और यजुर्वेद में—१६ । ६६ तथा उत्तराद्ध आगे है—अ० १८ । ४ । ६५ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छतु त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
आसीनासः । अरुणीनाम् । उप-स्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे ।
मर्त्याय ॥ पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छतु । ते ।
इह । ऊर्जम् । दधातु ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरों ! (अरुणीनाम्) पाने योग्य क्रियाओं [वा विद्याओं] की (उपस्थे) गोद में (आसीनासः) बैठे हुये तुम (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (रयिम्) धन (धत्त) धरो, (ते) वे तुम

सिचो लोपे रूपसिद्धिः । अवाक्षीः । प्रापितवानसि (हव्यानि) ग्राह्यवस्तूनि (सुरभीणि) म० १७ । पेश्वर्ययुक्तानि (कृत्वा) विधाय (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) ददातेर्लङ् । दत्तवानसि (पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) घस्लु अदने—लुङ् । भक्षितवन्तः (अद्धि) अद् भक्षणे—लोट् । भक्ष्य (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) यमु उपरमे—क्त, यद्वा यती प्रयत्ने—अप् । शुद्धानि । प्रयत्नसाधितानि (हवीषि) ग्राह्यभोजनानि ॥

४३—(आसीनासः) आसीनाः । उपविशन्तः (अरुणीनाम्) म० २१ । प्राप्तव्यानां क्रियाणां विद्यानां वा (उपस्थे) उत्सङ्गे (रयिम्) धनम् (धत्त) धरत (दाशुषे) दात्रे (मर्त्याय) मनुष्याय (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (पितरः)

(इह) यहां पर (पुत्रेभ्य) पुत्रों को (तस्य) उस (वस्वः) धन का (प्र यच्छत) दान करो, और (ऊर्जम्) पराक्रम (दधात) धारण करो ॥ ४३ ॥

भावार्थ—वृद्ध पितर लोग उत्तम क्रियाओं और विद्याओं द्वारा धन का संग्रह कर के सुपात्र विद्या आदि देने वाले पुरुष को धन का दान देवें और सन्तानों को यथा योग्य दाय भाग कर के पराक्रमी बनावें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ७। और यजुर्वेद १६। ६३॥
 अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छतु सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
 अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ४४
 अग्नि-स्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छतु । सदः-सदः ।
 सदत । सु-प्रणीतयः ॥ अत्तो इति । हवींषि । प्र-यतानि ।
 बर्हिषि । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । दधातु ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अग्निष्वात्ताः) हे अग्निविद्या [वा शारीरिक और आत्मिक तेज] के ग्रहण करने वाले (पितरः) पालन करने वाले पितरों ! (इह) यहां (आ गच्छत) आओ और (सुप्रणीतयः) अत्युत्तम नीतों वाले तुम (सदः-सदः) सभा सभा में (सदत) बैठो । और (बर्हिषि) वृद्धि कारक व्यवहार के बीच (प्रयतानि) शुद्ध [वा प्रयत्न से शुद्ध किये] (हवींषि) खाने योग्य अन्नों को (अत्तो) अवश्य खाओ, (च) और (नः) हमारे लिये (सर्ववीरम्) सब वीर पुरुषों के प्राप्त कराने हारे (रयिम्) धन को (धत्त) धारण करो ॥ ४४ ॥

(तस्य) (वस्वः) वसुनों धनस्य (प्र यच्छत) दानं कुरुत (ते) तादृशा यूयम् (इह) अस्मिंल्लोके (ऊर्जम्) पराक्रमम् (दधात) धरत ॥

४४—(अग्निष्वात्ताः) अग्नि + सु + आङ् + ददातेः-क्त । अग्निः सूर्यविद्यु-दग्निविद्या शारीरिकात्मिकतेजो वा आत्तं गृहीतं यैस्ते (पितरः) (इह) अस्मिन् काले (आ गच्छत) (सदःसदः) सदसि सदसि (सदत) सीदत । उपविशत (सुप्रणीतयः) अत्युत्तमनीतिमन्तः (अत्तो) अत्त-उ । भक्षयतैव (हवींषि) अदनीयानि भोजनानि (प्रयतानि) म० ४२ । शुद्धानि । प्रयत्नेन साधितानि (बर्हिषि) वृद्धिकरे व्यवहारे (रयिम्) धनम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीराः प्राप्यन्ते यस्मात् तम् (दधात) धरत ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभाओं में उपदेश करके अग्नि अर्थात् सूर्य, बिजुली और अग्नि आदि विद्याओं द्वारा मनुष्यों का शारीरिक तथा आत्मिक बल बढ़ावे और श्रद्धा से दिये हुये अन्न आदि को ग्रहण करके उन्हें पुष्टार्थी, श्रीमान् और वीर सेनापति बनावे ॥ ४४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ११ और यजुर्वेद में—१६। ५६ तथा सहर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में व्याख्यात है ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥४५॥
उप-हूताः । नः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिष्येषु । नि-धिषु ।
प्रियेषु ॥ ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि ।
ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य के योग्य [वा प्रियदर्शन] (पितरः) पितर लोग (नः) हमारे (बर्हिष्येषु) वृद्धि योग्य, (प्रियेषु) प्रिय (निधिषु) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों के निमित्त (उपहूताः) बुलाये गये हैं । (ते) वे (आ गमन्तु) आवें, (ते) वे (इह) इहां (श्रुवन्तु) सुनें, (ते) वे (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रुवन्तु) उपदेश करें और (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध विद्वानों का सत्कार करते रहें और उनसे उत्तम उत्तम उपदेश प्राप्त करके महाधनी और यशस्वी हों ॥ ४५ ॥

४५—(उपहूताः) निमन्त्रिताः (नः) अस्माकम् (पितरः) पितृवत्पालकाः (सोम्यासः) सोम्याः । ऐश्वर्यार्हाः । प्रियदर्शनाः (बर्हिष्येषु) वृद्धियोग्येषु (निधिषु) निमित्ते सप्तमी । रत्नसुवर्णादिकोशनिमित्ते (प्रियेषु) प्रीतिविषयेषु (ते) पितरः (आ गमन्तु) आगच्छन्तु (ते) (इह) अस्मिन् यज्ञदेशे (श्रुवन्तु) विकरणस्य लुक् । शृण्वन्तु (अधि) अधिकृत्य (ब्रुवन्तु) उपदिशन्तु (ते) (अवन्तु) रक्षन्तु (अस्मान्) धार्मिकान् ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०।१५।५ तथा यजुर्वेद—१६।
५७ और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में
व्याख्यात है ॥

ये नःपितुःपितरो ये पितामहा अनुजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥
ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । अनु-जहिरे ।
सोम-पीथम् । वसिष्ठाः ॥ तेभिः । यमः । सम-रराणः ।
हवींषि । उशन् । उशद्भिः । प्रति-कामम् । अत्तु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः)
पालन करने हारे पिता आदि ने और (ये) जिन (पितामहाः) दादा आदि
वयोवृद्धों ने (वसिष्ठाः) अत्यन्त श्रेष्ठ होकर (सोमपीथम्) ऐश्वर्य की रक्षा
को (अनुजहिरे) निरन्तर स्वीकार किया है । (संरराणः) अच्छे प्रकार दान
करने हारा, (उशन्) कामना करने हारा (यमः) संयमी सन्तान (तेभिः)
उन (उशद्भिः) कामना करने हारों के साथ (हवींषि) देने लेने योग्य
भोजनों को (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामना में (अत्तु) खावे ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज वृद्धों ने धार्मिक आचरणों से ऐश्वर्यवान् होकर
सन्तानों से प्रीति की है, वैसे ही सब सन्तान जितेन्द्रिय होकर उत्तम व्यवहारों
से उनकी सेवा करते रहें ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०।१५।८ और यजुर्वेद में १६।
५१ और इसका पहिला पाद आ चुका है—अ० १८।२।४६ ॥

४६—(ये) (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः) पितृवत्
पालकाः (ये) (पितामहाः) जनकस्य पितृवद् वृद्धाः (अनु-जहिरे) इज्
स्वीकारादिषु—लिट् । अनुजहिरे । निरन्तरं स्वीचक्रुः (सोमपीथम्) निशीथ-
गोपीथावगथाः । उ० २।६। सोम + पा रक्षणे—थक् । ऐश्वर्यरक्षणम् (वसिष्ठाः)
वसुतमाः । अतिशयेन श्रेष्ठाः सन्तः (तेभिः) तैः (यमः) न्यायी । संयमी
सन्तानः (संरराणः) रा दाने—कानच् । सम्यक्सुख-दाता (हवींषि) दातव्य
ग्राह्यभोजनानि (उशन्) कामयमानः (उशद्भिः) कामयमानैः (प्रतिकामम्)
कामं कामं प्रति (अत्तु) भक्षयतु ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेह'माना होत्राविद् स्तोम'तष्टासो अर्कैः ।

आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ४७

ये । तृषुः । देव-त्रा । जेह'मानाः । होत्रा-विदः । स्तोम-

तष्टासः । अर्कैः ॥ आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देव-वन्दैः ।

सत्यैः । कवि-भिः । ऋषि-भिः । घर्म-सत्-भिः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (जेहमानाः) प्रयत्न करते हुये, (होत्राविदः) वेदवाणी जानने वाले, (स्तोमतष्टासः) स्तुति योग्य कर्मों में ढाले हुये पुरुषों ने (अर्कैः) पूजनीय व्यवहारों से (देवत्रा) उत्तम गुणों की (तृषुः) तृष्णा की है । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (देववन्दैः) विद्वानों से वन्दना किये गये, (सत्यैः) सत्य शील वाले, (कविभिः) बुद्धिमान्, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (आ याहि) तू आ ॥ ४७ ॥

भावार्थ—जो महात्मा लोग उत्तम विचार वाले सत्यशील प्रतिष्ठित वेदवेत्ता होवें, विद्वान् पुरुष उन से मिलकर सत्कार पूर्वक उन्नति का विचार करें ॥ ४७ ॥

मन्त्र ४७, ४८ कुछ पद भेद और पाद भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ ।

६, १० ॥

४७—(ये) विद्वांसः (तृषुः) जि तृषा पिपासायाम्-लिट् । तृष्यन्ति स्म । उत्कण्ठितवन्तः (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुषः । पा० ५ । ४ । ५६ । इति द्वितीयार्थे त्रा । देवान् । दिव्यगुणान् (जेहमानाः) जेह प्रयत्ने—शानच् । प्रय-तमानाः । व्याप्रियमाणाः (होत्राविदः) होत्रा वाङ्नाम--निघ० १ । ११ । वेदवाग्ज्ञातारः (स्तोमतष्टासः) तक्षू तनूकरणे—क्त, असुगागमः । स्तोमैः स्तुति-कर्मभिस्तनूकृतः (अर्कैः) म० ४० । पूजनीयविचारैः (अग्ने) हे विद्वन् (आ याहि) आगच्छ (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (देववन्दैः) विद्वद्भिर्वन्दना नम-स्कारो येषां तैः (सत्यैः) सत्यशीलैः (कविभिः) मेधाविभिः (ऋषिभिः) वेदार्थ-दर्शकैः (घर्मसद्भिः) घर्म यज्ञनाम-निघ० ३ । १७ । यज्ञे सदनशीलैः ॥

ये स॒त्यासो॑ ह॒विरदो॑ ह॒विष्पा॑ इ॒न्द्रेण॑ दे॒वैः स॒रथं॑ त॒ुरेण॑ ।
 आग्ने॑ याहि सु॒विदत्रे॑भिर्वाङ् परैः पूर्वे॑ ऋषिभिर्घर्म॑ सद्भिः ॥ ४८ ॥
 ये । स॒त्यासः॑ । ह॒विः-अदः॑ । ह॒विः-पाः॑ । इ॒न्द्रेण॑ । दे॒वैः ।
 स॒-रथ॑म् । त॒ुरेण॑ ॥ आ । अग्ने॑ । याहि॑ । सु॒-विदत्रे॑भिः ।
 अ॒र्वाङ् । परैः॑ । पूर्वेः॑ । ऋषि॑-भिः । घ॒र्म॒सत्-भिः॑ ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सत्यासः) सत्यशील, (हविरदः) ग्राह्य अन्न खाने वाले, (हविष्पाः) देने लेने योग्य पदार्थों के रत्नक पुरुष (देवैः) विजयी पुरुषों के सहित (तुरेण) वेगवान् (इन्द्रेण) बड़े पेश्वर्य वाले जन के साथ (सरथम्) एकरथ में [चलते हैं] । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सुविदत्रेभिः) बड़े धनी, (परैः) श्रेष्ठ (पूर्वेः) पूर्वज, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले, (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (आ याहि) तू आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग, प्रतापी पुरुष के सहायक, शूरवीरों के नायक पूजनीय महापुरुषों से मिलकर सदा उन्नति का उपाय सोचें ॥ ४८ ॥

मन्त्राः ४६-५२ ॥

पृथिवी देवता ॥ ४६, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५० प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

पृथिव्या उपकारोपदेशः—पृथिवी के उपकार का उपदेश ॥

उप॑ सर्प॑ मा॒तरं॑ भूमिमे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
 ऊ॒र्णम॑दाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु प्रप॑थे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥
 उप॑ । सर्प॑ । मा॒तरम्॑ । भूमि॑म् । ए॒ताम् । उ॒रु-व्यच॑सम् ।

४९—(सत्यासः) सत्याः । सत्यशीलाः (हविरदः) हविषां ग्राह्यान्नानां भक्ष-
 यितारः (हविष्पाः) हविषां दातव्यग्राह्यपदार्थानां रत्नकाः (इन्द्रेण) परमेश्व-
 र्यवता पुरुषेण सह (देवैः) विजयिपुरुषैः सह (सरथम्) यथा तथा । समाने
 रथे वर्तमानाः (त्वरेण) त्वरमाणेन (अग्ने) हे विद्वान् (आयाहि) आगच्छ (सु-
 विदत्रेभिः) बहुधनयुक्तैः (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (परैः) उत्कृष्टैः (पूर्वेः)
 पूर्वपुरुषैः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

पृथिवीम् । सु-शेवाम् ॥ ऊर्ण—मृदाः । पृथिवी । दक्षिणा-
वते । एषा । त्वा । पातु । प्र-पथे । पुरस्तात् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(मातरम्) माता [के समान] (भूमिम्) आधार वाली
(एताम्) इस (उरुव्यचसम्) बड़े फैलाव वाली, (सुशेवाम्) बड़ी सुख देने
वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (उप) आदर से (सर्प) तू प्राप्त कर। (पृथिवी)
पृथिवी (दक्षिणावते) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] वाले पुरुष के लिये (ऊर्णमृदाः) ऊन
के समान मृदुल है, (एषा) यह [पृथिवी] (प्रपथे) बड़े मार्ग में (पुरस्तात्)
सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो जिज्ञासु पुरुष इस पृथिवी को खोजते रहते हैं, वे प्रतिष्ठा
के साथ सुख भोगते हुये आगे बढ़ते जाते हैं ॥ ४८ ॥

मन्त्र ४८-५२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १८ । १०—१३ ॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूप-
सर्पणा । माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५०॥ (१७)
उत् । श्वञ्चस्व । पृथिवि । मा । नि । बाधथाः । सु-उपा-
यना । अस्मै । भव । सु-उपसर्पणा ॥ माता । पुत्रम् । यथा ।
सिचा । अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी तू (उत् श्वञ्चस्व) फूलजा [फूलके
समान खिल जा], (मानि बाधथाः) मत दबी जा; (अस्मै) इस [पुरुष] के
लिये (सूपायना) अच्छे प्रकार पाने योग्य और (सूपसर्पणा) भले प्रकार चलने

४८—(उप) पूजायाम् (सर्प) गच्छ । प्राप्नुहि (मातरम्) मातृतुल्याम्
(भूमिम्) आधारभूताम् (एताम्) दृश्यमानाम् (उरुव्यचसम्) बहुव्याप्तिकाम्
(पृथिवीम्) (सुशेवाम्) बहुसुखकरीम् (ऊर्णमृदाः) गतिकारकोप० । उ०
४ । २२७ । ऊर्ण+मृदं लोदे-असि । ऊर्णवन्मृदुला (पृथिवी) भूमिः (दक्षिणावते)
प्रतिष्ठायुक्ताय मनुष्याय (एषा) (त्वा) (पातु) रक्षतु (पुरस्तात्) अग्रतः ॥

५० —(उच्छ्वञ्चस्व) श्वचि गतौ—लोद् । उदेहि । पुलकिता भव (पृथिवि)
(मा नि बाधथाः) संपीडिता मा भूः (सूपायना) सु + उप + अयना ।
सुखेन प्राप्तव्या (अस्मै) (भव) (सूपसर्पणा) सु + उप + सर्पणा । सुखेन

योग्य (भव) हो । (यथा) जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सि-
चा) अपने आंचल से, [वैसे] (भूमे) हे भूमि ! (एनम्) इस [पुरुष] को
[अपने रत्नों से] (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढक ले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञान पूर्वक पृथिवी के पदार्थों और गुणों का
प्रकाश करते हैं, वे अनेक रत्नों को पाकर ऐसे सुखी होते हैं जैसे माता से
रक्षित बालक आनन्द पाता है ॥ ५० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आ चुका है—अथ० १८ । २ । ५० ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रय-
न्ताम् । ते गृहासो घृतश्रुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः
सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

उत्-श्चञ्चमाना । पृथिवी । सु । तिष्ठतु । सहस्रम् । मितः ।
उप । हि । श्रयन्ताम् ॥ ते । गृहासः । घृत-श्रुतः । स्योनाः ।
विश्वाहा । अस्मै । शरणाः । सन्तु । अत्र ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(उच्छ्वञ्चमाना) फूलती हुयी (पृथिवी) पृथिवी (सु)
अच्छे प्रकार (तिष्ठतु) ठहरी रहे, (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (मितः)
फैले हुये स्थान [दुर्ग आदि] (हि) अवश्य (उप श्रयन्ताम्) आश्रय लेवें । (ते)
यह (गृहासः) घर (घृतश्रुतः) घी से सींचने वाले, (स्योनाः) सुख करने
हारे और (शरणाः) शरण देने वाले (विश्वाहा) सब दिन (अत्र) यहां पर
(अस्मै) इस पुरुष के लिये (सन्तु) होवें ॥ ५१ ॥

गन्तव्या (माता) जननी (पुत्रम्) सन्तानम् (यथा) (सिचा) चेलाञ्चलेन
(अभि) सर्वतः (एनम्) जिज्ञासुम् (भूमे) हे पृथिवि (ऊर्णुहि) आच्छादय
स्वरत्नैः ॥

५१—(उच्छ्वञ्चमाना) म० ५० । पुलकितावयवा (पृथिवी) (सु)
(तिष्ठतु) (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (मितः) डु मिञ् प्रक्षोपणे—किप्, तुक् ।
प्रक्षिप्ता विस्तृता दुर्गादिनिवासाः (हि) निश्चयेन (उपश्रयन्ताम्) आश्रिता
भवन्तु (ते) दृश्यमानाः (गृहासः) गृहाः (घृतश्रुतः) श्रुतिर् क्षरणे—किप् ।
घृतेन क्षारयितारः । सेक्ताः (स्योनाः) सुखकराः (विश्वाहा) सर्वाण्यहानि
(अस्मै) पुरुषाय (शरणाः) शरण—अर्श आद्यच् । आश्रयभूताः (सन्तु)
(अत्र) अस्मिन्ल्लोके ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पृथिवी को भले प्रकार उपकारी करके अच्छे अच्छे दृढ़ सुखदायक स्थान बनावें ॥ ५१ ॥

उत्तं स्तम्भनामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं
रिषम् । एतां स्थूणां पितरों धारयन्ति ते तत्र यमः सादना
ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

उत् । ते । स्तम्भनामि । पृथिवीम् । त्वत् । परि । इमम् ।
लोगम् । नि-दधत् । मो इति । अहम् । रिषम् ॥ एताम् ।
स्थूणां । पितरः । धारयन्ति । ते । तत्र । यमः । सदाना ।
ते । कृणोतु ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (पृथिवीम्) पृथिवी को
(उत्) उत्तमता से (स्तम्भनामि) मैं [गृहस्थ] थांभता हूं, (त्वत् परि) तेरे
सब ओर (इमम्) इस (लोगम्) निवास स्थान को (निदधत्) दृढ़ जमाता
हूँ (अहम्) मैं (मो रिषम्) कभी न दुःख पाऊं । (एताम्) इस (स्थूणां)
नीव [घर की मूल] को (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (ते) तेरे
लिये (धारयन्ति) धरते हैं, (तत्र) उस [नीव] पर (यमः) संयमी
[शिल्पी जन] (ते) तेरे लिये (सदाना) घरों को (कृणोतु) बनावे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य भूमि को सुथरी सुडौल बनाकर बड़े लोगों के

५२—(उत्) उत्तमतया (ते) तुभ्यम् (स्तम्भनामि) ष्टमि गतिप्रति-
बन्धे—श्ना । धारयामि । स्थापयामि (पृथिवीम्) भूमिम् (त्वत् परि) तव
परितः (इमम्) (लोगम्) लुज लुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—घञ् । चजोः कु
ग्रियतोः । पा० ७ । २ । ५२ । इति कुत्वं घिति प्रत्यये । निवासस्थानम् (निद-
धत्) दृढं धारयन् (अहम्) गृहस्थः (मो रिषम्) मैव हिंसितो भूवम् (एताम्)
(स्थूणां) रास्नासास्नास्थूणावीणाः । उ० ३ । १५ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—
नप्रत्ययः, आकारस्य ऊ इत्यादेशः । तिष्ठति गृहं यस्यां ताम् । गृहमूलम् (पितरः)
पालका महात्मानः (धारयन्ति) धरन्ति (ते) तुभ्यम् (तत्र) गृहमूले (यमः)
संयमी । शिल्पी (सदाना) गृहाणि (ते) तुभ्यम् (कृणोतु) करोतु ॥

हाथों से नीव जमवा कर अच्छे अच्छे शिलियों से दृढ़ स्थान बनवावें जिससे रहने वाले सदा सुखी रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३—६० ॥

अग्निदेवता ॥ ५३ आर्षी त्रिष्टुप्; ५४ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ५५, ५७ त्रिष्टुप्; ५६ अनुष्टुप्; ५८ भुरिग् विराट् छन्दः; ५९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ६० षट्पदा जगती ॥

गृहरक्षणोपदेशः—घर की रक्षा का उपदेश ॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥
इमम् । अग्ने । चमसम् । मा । वि । जिह्वरः । प्रियः । देवा-
नाम् । उत । सोम्यानाम् ॥ अयम् । यः । चमसः । देव-पानः ।
तस्मिन् । देवाः । अमृताः । मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (इमम्) इस (चमसम्) खाने योग्य अन्न को (वि) बिगाड़ कर (मा जिह्वरः) मत नष्ट कर, वह [अन्न] (देवानाम्) विद्वानों का (उत) और (सोम्यानाम्) ऐश्वर्य वालों का (प्रियः) प्रिय है । (अयम्) यह (यः) जो (चमसः) अन्न (देवपानः) इन्द्रियों का रक्षक है, (तस्मिन्) उस में (अमृताः) अमर [न मरे हुये पुरुषार्थी] (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (मादयन्ताम्) [सब को] तृप्त करें ॥ ५३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्न आदि पदार्थ के सेवन से विद्वान् और ऐश्वर्यवान् होकर शरीर रक्षा करके सब को सुखी रखें ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ८ ॥

५३—(इमम्) उपस्थितम् (चमसम्) अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ ।
चमु अदने—असच् । भक्षणीयं पदार्थम् (वि) विकृत्य (मा जिह्वरः) हू, कौ-
टिल्ये—णिचि चङि लुङि रूपम् । कुटिलं नष्टं मा कार्षीः (प्रियः) प्रीतिकरः
(देवानाम्) विदुषाम् (उत) अपि च (सोम्यानाम्) ऐश्वर्ययोग्यानाम् (अयम्)
(यः) (चमसः) भक्षणीयपदार्थः (देवपानः) पा रक्षणे—ल्युट् । इन्द्रियरक्षणः
(तस्मिन्) पदार्थे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (अमृताः) अमराः । पुरुषार्थ-
वन्तः (मादयन्ताम्) तर्पयन्तु सर्वान् ॥

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाविभर्वाजिनीवते । तस्मिन्
कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥
अथर्वा । पूर्णम् । चमसम् । यम् । इन्द्राय । अविभः । वाजि-
नी-वते ॥ तस्मिन् । कृणोति । सु-कृतस्य । भक्षम् । तस्मिन् ।
इन्दुः । पवते । विश्व-दानीम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (यम्) जिसे (पूर्णम्) पूरे
(चमसम्) अन्न को (वाजिनीवते) विज्ञान युक्त क्रिया वाले (इन्द्राय) बड़े
ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (अविभः) भरा है । (तस्मिन्) उस [अन्न] में
(इन्दुः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुकृतस्य) सुकर्म का (भक्षम्) सेवन [वा
भोग] (कृणोति) करता है, और (तस्मिन्) उसी [अन्न] में वह (विश्वदा-
नीम्) समस्त दानों की क्रिया को (पवते) शुद्ध करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने संसार को अन्न आदि सुखदायक पदार्थों से
भर दिया है, मनुष्य पुरुषार्थ से धर्म के साथ उन्हें प्राप्त कर के सब को सुख
देवे ॥ ५४ ॥

यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोदं पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमंश्च यो ब्राह्मणां आविवेश ५५
यत् । ते । कृष्णः । शकुनः । आ-तुतोदं । पिपीलः । सर्पः ।

५४—(अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ ।
१८ । स्नामदिपद्यति० । उ० ४ । ११३ । अ+थर्व चरणे—वनिप्, वलोपः ।
निश्चलः परमेश्वरः । (पूर्णम्) पर्याप्तम् (चमसम्) म० ५३ । भक्षणीयपदार्थम्
(यम्) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (अविभः) विभर्त्तेर्लङि प्रथमैक-
वचनम् । भृतवान् (वाजिनीवते) विज्ञानवतीक्रियायुक्ताय (तस्मिन्) चमसे
(कृणोति) करोति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः । धर्मस्य (भक्षम्) वृतृवदिवचि० ।
उ० ३ । ६२ । भज सेवायाम्—सप्रत्ययः । सेवनम् । भोगम् (तस्मिन्) (इन्दुः)
परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पवते) शोधयति (विश्वदानीम्) अ० ७ । ७३ । ११ ।
विश्वानि सर्वाणि दानानि यस्यां तां क्रियाम् ॥

उत । वा । श्वापदः ॥ अग्निः । तत् । विश्व-अत् । अगदम् ।
कृणोतु । सोमः । च । यः । ब्राह्मणान् । आ-विवेश ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा [अङ्ग] (कृष्णः)
काले (शकुनः) पक्षी [काक आदि], (पिपीलः) चीउंटा, (सर्पः) सर्प,
(उत वा) अथवा (श्वापदः) कुत्ते समान पाँव वाले, जङ्गली पशु [व्याघ्र
शृगाल आदि] ने (आतुतोद) घायल कर दिया है, (तत्) उस [घायल अङ्ग]
को (विश्वात्) सर्वरोगभक्षक (अग्निः) आग (अगदम्) नीरोग (कृणोतु)
करे, (च) और (यः) जिस (सोमः) ऐश्वर्य [प्रभाव] ने (ब्राह्मणान्) बड़े
विद्वानों में (आविवेश) प्रवेश किया है, [वह भी उसे नीरोग करे] ॥ ५५ ॥

भावार्थ—यदि विषैला पक्षी, पशु सर्प, कीट आदि काट खावे, तो
मनुष्य थोड़े विषैले के काटे को आग से सेक दे और बड़े विषैले के काटे को
आग से जलावे तथा और विद्वान् वैद्यों से भी औषध करावे, यह गृहस्थों को
जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १६ । ६ ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।

अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सुह शुम्भतु ॥ ५६ ॥

पयस्वतीः । ओषधयः । पयस्वत् । मामकम् । पयः ॥

अपाम् । पयसः । यत् । पयः । तेन । मा । सुह । शुम्भतु ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां [अन्न सोम लता आदि] (पयस्वतीः)

५५—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (कृष्णः) कृष्णवर्णः (शकुनः) पक्षी
काकादिः (आतुतोद) तुद व्यथने । सर्वतो व्यथितं व्याकुलं कृतवान् (पिपीलः)
अपि + पील रोधने—अच् । विषदंष्ट्रः पिपीलकादिः (सर्पः) भुजङ्गः (उत वा)
अथवा (श्वापदः) शुनः पादानीव पादानि यस्य सः । व्याघ्रशृगालादिहिंस्रपशुः
(अग्निः) भौतिकोऽग्निः (तत्) व्यथितमङ्गम् (विश्वात्) सर्वरोगभक्षकः
(अगदम्) नीरोगम् (कृणोतु) करोतु (सोमः) ऐश्वर्यम् । प्रभावः (यः)
(ब्राह्मणान्) विदुषः पुरुषान् (आविवेश) सम्यक् प्रविष्टवान् ॥

५६—(पयस्वतीः) रपेरत एच्च । उ० ४ । १६० । पा पाने—असुन

सार वाली [होवे], (मामकम्) मेरा (पयः) ज्ञान (पयस्वत्) सार वाला [होवे] । और (अपाम्) जलों के (पयसः) सार का (यत्) जो (पयः) सार है, (तेन सह) उस के साथ (मा) मुझे (शुम्भतु) वह [विद्वान्] शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विचार पूर्वक सारयुक्त ओषधियों का सेवन शुद्ध उत्तम जल के साथ करके शरीर को पुष्ट करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद स ऋग्वेद में है—१० । १७ । १४ । इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का मिलान करो—अ० ३ । २४ । १ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

इमाः । नारीः । अविधवाः । सु-पत्नीः । आ-अञ्जनेन । सर्पिषा ।
सम् । स्पृशन्ताम् ॥ अनश्रवः । अनमीवाः । सु-रत्नाः । आ ।
रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह [विदुषी] (नारीः) नारियां (अविधवाः)
सधवा [मनुष्यों वाली] और (सुपत्नीः) धार्मिक पतियों वाली होकर
(आञ्जनेन) यथावत् मेल से और (सर्पिषा) घी आदि [सारपदार्थ] से
(सं स्पृशन्ताम्) संयुक्त रहें । (अनश्रवः) बिना आसुओं वाली, (अनमीवाः)
बिना रोगों वाली, (सुरत्नाः) सुन्दर सुन्दर रत्नों वाली (जनयः) माताये (अग्रे)
आगे आगे (योनिम्) मिलने के स्थान [घर, सभा आदि] में (आ रोहन्तु)
चढ़ें ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो विदुषी स्त्रियां ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुण वाली होती हैं,
वे अपने विद्वान् सुयोग्य कुटुम्बियों पतियों और पुत्र आदि के साथ शरीर और

मनुप्, डीप् धातोरीत्वम् । सारवत्यः (ओषधयः) अन्नसोमलतादयः (पयस्वत्)
सारयुक्तम् (मामकम्) मदीयम् (पयः) पय गतौ—असुन् । ज्ञानम् (अपाम्)
जलानाम् (पयसः) सारस्य (यत्) (पयः) सारः (तेन) पयसा (मा) माम्
(सह) (शुम्भतु) शोभनं करोतु ॥

आत्मा से स्वस्थ रहकर बहुत धनवती और सुखवती होकर अग्रगामिनी बनती हैं ॥ ५७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १८ । ७ । और ऊपर आचुका है—अ० १२ । २ । ३१ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनैष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।

हित्वावद्यं पुनरस्तुमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥

सम् । गच्छस्व । पितृ-भिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन ।

परमे । वि-व्योमन् ॥ हित्वा । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् ।

आ । इहि । सम् । गच्छताम् । तन्वा । सु-वर्चाः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यमेन सम्) नियम [ब्रह्मचर्य आदि व्रत] के साथ (इष्टापूर्तेन) यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्नदान आदि पुण्य कर्म से (परमे) सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षा पद में [वर्तमान] (पितृभिः) पितरों [पालक महात्माओं] से (सं गच्छस्व) तू मिल । (अवद्यम्) निन्दित कर्म [अज्ञान] को (हित्वा) छोड़कर (पुनः) फिर (अस्तम्) घर (आ इहि) तू आ और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तन्वा) उपकार शक्ति के साथ (सं गच्छताम्) आप मिलें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ बड़े विद्वान् महाशयों से विद्या प्राप्त करके गृहाश्रम में प्रवेश कर प्रतापी होवे ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ । और इस का चौथा पाद ऊपर आचुका है—अ० १८ । २ । १० तथा ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

५८—(सं गच्छस्व) संगतो भव (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (सम्) सह (यमेन) नियमेन । ब्रह्मचर्यादिव्रतेन (इष्टापूर्तेन) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञ-वेदाध्ययनान्नदानादिकर्मणा (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० १ । १७ । ६ । वि + अव रक्षणे—मनिन् । विशेषरक्षापदे (हित्वा) त्यक्त्वा (अवद्यम्) निन्द्यम् अज्ञानम् (पुनः) अज्ञानत्यागानन्तरम् (अस्तम्) गृहम् (इहि) आगच्छ (सं गच्छताम्) संगतो भवतु भवान् (तन्वा) उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महा-

ये नः । पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुर्वन्त-
रिहाम् । तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः
कल्पयाति ॥ ५८ ॥

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आ-वि-वि-
शुः । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ तेभ्यः । स्व-राट् । असु-नीतिः ।
नः । अद्य । यथा-वशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः)
पिता के समान हैं, और (ये) जो [उस के] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं,
और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्याबल से विमान
आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं, (तेभ्यः) उन [पितरों] के लिये
(स्वराट्) स्वयं राजा (असुनीतिः) प्राण दाता परमेश्वर (नः) हमारे
(तन्वः) शरीरों को (अद्य) अब (यथावशम्) [हमारी] कामना के अनुकूल
(कल्पयाति) समर्थ करे ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो पितर लोग विद्या के भंडार परोपकारी होवें, सब
मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना द्वारा विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त कर के उन
महात्माओं के उद्देश्य पूरे करने में समर्थ होवें ॥ ५८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १४ तथा
यजुर्वेद में—१६ । ६० और पूर्वार्द्ध ऊपर आया है—अ० १८ । २ । ४६ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् ।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।

मण्डुक्व्यं प्सु शं भुव इमं स्वं गिं शमय ॥ ६० ॥ (१८)

शम् । ते । नीहारः । भवतु । शम् । ते । प्रुष्वा । अर्ध ।

५८—पूर्वार्द्ध व्याख्यातः—अ० १८ । २ । ४६ । (तेभ्यः) पितृभ्यः
(स्वराट्) स्वयमेव राजा शासकः (असुनीतिः) असूनां प्राणानां नेता प्रापकः
परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (यथावशम्) यथाकामम् (तन्वः)
शरीराणि (कल्पयाति) कल्पयेत् । समर्थयेत् ॥

शीयताम् ॥ शीतिके । शीतिका-वति । ह्लादिके । ह्लादिका-
वति ॥ मण्डुकी । अप्-सु । शम् । भुवः । इमम् । सु । अग्निम् ।
शमय ॥ ६० ॥ (१८)

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (नीहारः) कुहरा (शम्) शान्तिदायक
(भवतु) होवे, (ते) तेरे लिये (प्रुषा) वृष्टि (शम्) शान्ति से (अवशीय-
ताम्) नीचे गिरे । (शीतिके) हे शीतल स्वभाव वाली (शीतिकावति) हे
शीतल क्रियाओं वाली (ह्लादिके) हे आनन्द देने वाली (ह्लादिकावति) हे
आनन्द युक्त क्रियाओं वाली ! [प्रजा अर्थात् प्रत्येक स्त्री पुरुष] (अप्सु) जल
में (मण्डुकी) मेंडुकी [के समान] तू (शम्) शान्त (भुवः) हो, और
(इमम्) इस (अग्निम्) आग [महासन्ताप] को (सु) अच्छे प्रकार (शमय)
शान्त कर ॥ ६० ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष कुहरें, वृष्टि आदि का सहन कर के और जल
में मेंडुकी के समान शान्त स्वभाव और प्रसन्न चित्त रहकर सन्ताप अर्थात्
विघ्नों का नाश करें ॥ ६० ॥

इस मन्त्र का भाग (शीतिके.....शमय) कुछ भेद से ऋग्वेद में है—
१० । १६ । १४ ॥

मन्त्राः ६१—६४ ॥

विवस्वान् यमो वा देवता ॥ ६१ त्रिष्टुप् ; ६२ आर्षी त्रिष्टुप् ; ६३ निचृत्

६०—(शम्) सुखकरः (ते) तुभ्यम् (नीहारः) घनीभूतशिशिरम्
(भवतु) (शम्) शान्तिप्रदः (ते) (प्रुषा) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ ।
११४ । प्रुष स्नेहनसेवनपूरणेषु—कनिप् । वृष्टिपातः (अवशीयताम्) शीङ्
स्वप्ने—भावे लोट् । अधो वर्तताम् । अधः पततु (शीतिके) स्वार्थे कन् , टाप् ।
उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः । पा० ७ । ३ । ४६ । अत इत्त्वम् । हे शीतल-
स्वभावे प्रजे (शीतिकावति) हे शीतलक्रियायुक्ते (ह्लादिके) ह्लादी सुखे—
एवुल् । प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । अत इत्त्वम् ।
हे सुखकारिणि (ह्लादिकावति) हे सुखवतीक्रियायुक्ते (मण्डुकी) मण्डुक-
स्त्री यथा (अप्सु) जलेषु (शम्) शान्ता (भुवः) लोटि रूपम् । भवेः (इमम्)
(सु) सुष्टु (अग्निम्) सन्तापम् । विघ्नम् (शमय) शान्तं कुरु ॥

त्रिष्टुप् ; ६४ भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः ॥

अभयप्राप्त्युपदेशः—अभय पाने का उपदेश ॥

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥६१॥

विवस्वान् । नः । अभयम् । कृणोतु । यः । सु-त्रामा ।

जीर-दानुः । सु-दानुः ॥ इह । इमे । वीराः । बहवः । भवन्तु ।

गो-मत् । अश्व-वत् । मयि । अस्तु । पुष्टम् ॥ ६१ ॥

भावार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (यः) जो [परमात्मा] (सुत्रामा) बड़ा रक्षक (जीरदानुः) वेग का देने वाला, (सुदानुः) बड़ा उदार है (इह) यहाँ पर (इमे) यह सब (वीराः) वीर लोग (बहवः) बहुत (भवन्तु) हों, (गोमत्) उत्तम गौओं से युक्त और (अश्ववत्) उत्तम घोड़ों से युक्त (पुष्टम्) पोषण (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर प्रयत्नशाली वेगवान् और उदार होकर संसार में शान्ति करें और सब लोगों को वीर बनाकर समृद्ध हों ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि जात कर्म प्रकरण में उद्धृत है और इस का तीसरा पाद ऊपर आया है—अ० १२। २। २१ ॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न सेतु ।

इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिष्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥६२॥

६१—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) भयराहित्यम् (कृणोतु) करोतु (यः) परमेश्वरः (सुत्रामा) सु+त्रैङ् पालने मनिन् । बहुरक्षकः (जीरदानुः) अ० ७। १८। २। जोरी च । उ० २। २३। जु गतौ-रक्, ईकारादेशः, जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २। १५, ददातेनु । वेगदाता (सुदानुः) महोदारः (इह) अत्र संसारे (इमे) (वीराः) शूराः (बहवः) बहुसंख्याकाः (भवन्तु) (गोमत्) उत्तमगोभिर्युक्तम् (अश्ववत्) भ्रेष्ठाश्वोपेतम् (मयि) (अस्तु) (पुष्टम्) पोषणम् । वर्धनम् ॥

विवस्वान् । नः । अमृत-त्वे । दधातु । परा । एतु । मृत्युः ।
अमृतम् । नः । आ । एतु ॥ इमान् । रक्षतु । पुरुषान् । आ ।
जरिम्णः । मो इति । सु । एषाम् । असवः । यमम् । गुः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमें (अमृतत्वे)
अमरपन [यश] के बीच (दधातु) रखे, (मृत्युः) [निर्धनता आदि दुःख]
(परा) दूर (एतु) जावे, (अमृतम्) अमरण [धनाढ्यता] (नः) हम में
(आ एतु) आवे । वह [परमेश्वर] (इमान्) इन (पुरुषान्) पुरुषों को
(जरिम्णः) जीवन की हानि से (आ) सब प्रकार (रक्षतु) बचावे, (एषाम्)
इन के (असवः) प्राण (यमम्) मृत्यु को (सु) कष्ट के साथ (मो गुः)
कभी न जावें ॥ ६२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमात्मा के नियम से कभी भूखे प्यासे नहीं
रहते, वे धनवान् होकर अपना जीवन सुख से बिताते हैं ॥ ६२ ॥

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मुह्यति पितॄणां कुविः प्रमत्तिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतुरं जीवसे धातुः
यः । दध्रे । अन्तरिक्षे । न । मुह्यति । पितॄणाम् । कुविः । प्र-
मत्तिः । मतीनाम् ॥ तम् । अर्चतु । विश्व-मित्राः । हविः-भिः ।
सः । नः । यमः । प्र-तुरम् । जीवसे । धातु ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (पितॄणाम्) पितरों [पालक-

६२—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमात्मा (नः) अस्मान् (अमृतत्वे)
अमरत्वे । यशसि (दधातु) धारयतु (परा) दूरे (एतु) गच्छतु (मृत्युः)
मरणम् । निर्धनतादिदुःखम् (अमृतम्) अमरणम् । धनाढ्यत्वम् (नः) अस्मान्
(एतु) आगच्छतु (इमान्) उपस्थितान् (रक्षतु) पातु (पुरुषान्) (आ)
समन्तात् (जरिम्णः) जरा-इमनिच् । वयोहानेः सकाशात् (मो गुः) इण् गतौ,
माङि लुङि रूपम् । मैव गच्छन्तु (सु) कृच्छ्रेण । कष्टेन (एषाम्) पुरुषाणाम्
(असवः) प्राणाः (यमम्) मृत्युम् ॥

६३—(यः) परमात्मा (दध्रे) धृञ् धारणे-लिट् । धृतवान् (अन्तरिक्षे)

महात्माओं] में (कविः) बुद्धिमान् और (मतीनाम्) बुद्धिमानों में (प्रमतिः) बड़ा बुद्धिमान् होकर (अन्तरिक्षे) आकाश के बीच (न) प्रबन्ध के साथ (महा) अपनी महिमा से [सब लोकों को] (दध्रे) धारण किया है । (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र होकर तुम (हविर्भिः) आत्मसमर्पणों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा आकाश के बीच सब लोगों को रचकर आकर्षण आदि नियम में रखता है, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना कर के अपने जीवन को अधिक अधिक उच्च बनाते हैं ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आगे है, अ० १८ । ४ । ५४ ॥

आ रोहतु दिवमुत्तमामृषये मा विभीतन । सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥
आ । रोहतु । दिवम् । उत्तमाम् । ऋषयः । मा । विभीतन ॥ सोमपाः । सोमपायिनः । इदम् । वः । क्रियते । हविः । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत्तमाम्) उत्तम (दिवम्) विद्या में (आ रोहत) तुम ऊंचे होओ, (ऋषयः) हे ऋषियो ! [सन्मार्गदर्शको] (मा

आकाशे (न) एह बन्धने—ड । सुपां सुलुक्० । पा० । ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्लुक् । नेन प्रबन्धेन । आकर्षणादिनियमेन (महा) स्वमहिम्ना (पितृणाम्) पालकमहात्मनां मध्ये (कविः) मेधावी (प्रमतिः) प्रकृष्टबुद्धियुक्तः (मतीनाम्) मतयो मेधाविनाम्—निघ० ३ । १५ । मेधाविनां मध्ये (तम्) परमात्मानम् (अर्चत) पूजयत (विश्वमित्राः) सर्वेषां सखायः सन्तः (हविर्भिः) आत्मदानैः (सः) (नः) अस्मान् (यमः) नियामकः परमेश्वरः (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीवसे) जीवनाय (धात्) दध्यात् । धारयेत् ॥

६४—(आ रोहत) आरूढा भवत (दिवम्) दिवु गतो—डिवि । गतिम् । विद्याम् (उत्तमाम्) उत्तकृष्टाम् (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः (मा विभीतन)

बिभीतन) मत भय करो । तुम (सोमपाः) शान्ति रस पीने वाले और (सोम-
पायिनः) शान्ति रस पिलाने वाले हो, (वः) तुम्हारे लिये (इदम्) यह (हविः)
देने लेने योग्य कर्म (क्रियते) किया जाता है, (उत्तमम्) सब से उत्तम
(ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (अगन्म) हम सब प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जो ऋषि महात्मा उत्तम विद्या प्राप्त कर के शान्तचित्त होकर
संसार में शान्ति स्थापित करें, मनुष्य उन से सत्कार पूर्वक शिक्षा ग्रहण
करके परमात्मा की आज्ञा पालने में आनन्द पावें ॥ ६४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिमपाद (अगन्म ..) यजुर्वेद में है—२० । २१ ॥

मन्त्राः ६५—६७ ॥

अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ ६५, ६६ त्रिष्टुप् ; ६७ पथ्या बृहती ॥
राजकर्त्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।

दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडुपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

प्र । केतुना । बृहता । भाति । अग्निः । आ । रोदसी इति ।

वृषभः । रोरवीति ॥ दिवः । चित् । अन्तात् । उप-माम् ।

उत् । आन्ट् । अपाम् । उप-थे । महिषः । ववर्ध ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी राजा (बृहता) बड़ी (केतुना)
बुद्धि के साथ (प्र भाति) चमकता जाता है, [जैसे] (वृषभः) वृष्टि कराने

बिभेतेर्लोति तनादेशः । मा बिभीत । भयं मा प्राप्नुत (सोमपाः) शान्तिरसस्य
पानशीलाः (सोमपायिनः) शान्तिरसस्य पानकारयितारः (इदम्) (वः)
युष्मभ्यम् (क्रियते) विधीयते (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म (अगन्म) लिङ्गर्थे
लुङ् । वयं प्राप्नुयाम (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्तमम्)
श्रेष्ठम् ॥

६५—(प्र) प्रकर्षेण (केतुना) प्रज्ञया—निघ० ३ । ६ (बृहता) महता

वाला [सूर्य का ताप] (रोदसी) आकाश और पृथिवी में (आ) व्यापकर (रोरवीति) [बिजुली, मेघ, वायु आदि द्वारा] सब ओर से गरजता है । और (दिवः) सूर्य लोक के (चित्) ही (अन्तात्) अन्त से (उपमाम्) [हमारी] निकटता को (उत्) उत्तमता से (आनट्) वह [सूर्य का ताप] व्यापता है, [वैसे ही] (महिषः) वह पूजनीय राजा (अपाम्) प्रजाओं को (उपस्थे) गोद में (ववर्ध) बढ़ता है ॥ ६५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने ताप द्वारा पृथिवी से जल खींचकर और फिर बरसा कर आनन्द बढ़ाता है, वैसे ही जो प्रतापी राजा प्रजा से कर लेकर प्रजा को सुख देता है, वह प्रजाप्रिय होकर संसार में बढ़ाता है ॥ ६५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८ । १ तथा सामवेद में—
पू० १ । ७ । ६ । दूसरा पाद ऋग्वेद में है—६ । ७३ । १ ॥

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरग्युम् ॥६६॥
नाके । सु-पर्णम् । उप । यत् । पतन्तम् । हृदा । वेनन्तः ।
अभि-अचक्षत । त्वा ॥ हिरण्य-पक्षम् । वरुणस्य । दूतम् ।
यमस्य । योनौ । शकुनम् । भुरग्युम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (यत्) जैसे (नाके) आकाश में (उप

द्यावापृथिव्यौ (वृषभः) वर्षकः सूर्यतापः (रोरवीति) भृशं रौति । विद्युदादिना भृशं शब्दं करोति (दिवः) सूर्यलोकस्य (चित्) एव (अन्तात्) (उपमाम्) सामीप्यम् (उत्) उत्तमतया (आनट्) अशूङ् व्याप्तौ लिटि, पश्वे, पशो लुक् छान्दसः, वश्चादिना षत्वम् । भृशं जशोऽन्ते । पा० ८ । २ । ३६ । इति डकारः । वावसाने । पा० ८ । ४ । ५६ । डस्य टः । आनट्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । आनशे । अश्नुते । व्याप्नोति (अपाम्) प्रजानाम् (उपस्थे) उपस्थाने । उत्सङ्गे (महिषः) महान्—निघ० ३ । ३ । पूजनीयो राजा (ववर्ध) लडर्थे लिट् । ववृधे । वर्धते ॥

६६—(नाके) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीम् प्रापणे-आकप्रत्ययः,

पतन्तम्) उड़ते हुये (सुपर्णम्) सुन्दर पंख वाले [गरुड़ आदि] पक्षी को,
[वैसे ही] (हिरण्यपक्षम्) तेज ग्रहण करने वाले, (वरुणस्य) श्रेष्ठ गुण के
(दूतम्) पहुँचाने वाले, (यमस्य) न्याय के (योनौ) घर में (शकुनम्) शक्ति-
मान और (भुरण्युम्) पालन करने वाले (त्वा) तुझ को (हृदा) हृदय से
(वेनन्तः) चाहने वाले पुरुषों ने (अभ्यचक्षत) सब ओर से देखते हैं ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जो राजा महाप्रतापी, श्रेष्ठ गुणी, न्यायकारी और प्रजा-
पालक होता है, मनुष्य उस वेगवान् तीव्रबुद्धि को ऐसी प्रीति से देखते हैं,
जैसे आकाश में ऊँचे उड़ते हुये गरुड़ आदि को चाव से देखते हैं ॥ ६६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १२३ । ५ और सामवेद में—पू० ४ । ३ । ८
तथा उ० ६ । २ । १३ ॥

इन्द्रं क्रतुं नु आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो
अस्मिन् पुरुहूतु यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

इन्द्रं । क्रतुम् । नुः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ॥
शिक्षा । नुः । अस्मिन् । पुरु-हूतु । यामनि । जीवाः ।
ज्योतिः । अशीमहि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! तू (नः) हमारे लिये
(क्रतुम्) बुद्धि (आ भर) भर दे, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः)

टिलोपः । लोकानां नेतरि आकाशे (सुपर्णम्) शोभनपक्षोपेतं गरुडादि-
विहङ्गम् (यत्) यथा (उप पतन्तम्) उड़डीयमानम् (हृदा) हृदयेन (वेनन्तः)
वेनतिः कान्तिकर्मा—निघ० २ । ६ । कामयमानाः (अभ्यचक्षत) सर्वतः पश्यन्ति
(त्वा) त्वां राजानम् (हिरण्यपक्षम्) पक्ष परिग्रहे—अच् । तेजसो अहीतारम्
(वरुणस्य) श्रेष्ठगुणस्य (दूतम्) दूतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ६० । दुगतौ—क्त ।
प्रापकम् (यमस्य) न्यायस्य (योनौ) गृहे (शकुनम्) शक्रंरुनोन्तान्त्युनयः । उ०
३ । ४६ । शक्लट शक्तौ—उनप्रत्ययः । शक्तम् । समर्थम् (भुरण्युम्) यजिमनि-
शुन्धि० उ० ३ । २० । भुरण धारणपोषणयोः—युच् । भर्तारम् ॥

६७—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् राजन् (क्रतुम्) प्रज्ञाम् (नः) अस्मभ्यम्
(भर) पोषय (पिता) (पुत्रेभ्यः) भ्रातृपुत्रौ स्वसृद्बुहितृभ्याम् । पा० १ । २ ।

पुत्रों [सन्तानों] के लिये । (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये [राजन् !]
(अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग में (नः) हमें (शिन्) शिन्ना दे,
[जिस से] (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि)
पावें ॥ ६७ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम विद्यालय, शिल्पालय आदि खोलकर
प्रजा का हित करे जैसे पिता सन्तानों का हित करता है, जिस से लोग अज्ञान
के अन्धकार से छूट कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २६ और सामवेद में है—पू० ३ । ७ । ७
तथा उ० ६ । ३ । ६ ॥

मन्त्राः ६८—७३ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ६८, ७०, ७२ अनुष्टुप् ; ६९, ७१ तिच्च्दाषी बहती;
७३ त्रिष्टुप् ॥

गृहाश्रमे मनुष्यकर्तव्योपदेशः—गृहाश्रम में मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्तै देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्रुतः ॥ ६८ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥
ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्रुतः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों
[शुद्ध पके हुये भोजनों माल पूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्)
पात्रों को (ते) तरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है । (ते) वे

६८ । इत्येकशेषः । पुत्रदुहितृभ्यः । सन्तानेभ्यः (यथा) (शिन्) अनुशाधि ।
शिन्नां कुरु (नः) अस्मान् (पुरुहूत) बहुप्रकारेणाहूत (यामनि) समये मार्गे
वा (जीवाः) प्राणिनो वयम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम ॥

६८—(अपूपापिहितान्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । ३३ । नञ् + पूयी
विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । अविशीर्णा अक्षीणा अपूपाः सुसंस्कृ-
तभोजनपदार्था अपिहिता आञ्छादिता येषु तान् । सुसंस्कृतभोजनपदार्थपूर्णानि
(कुम्भान्) घटान् (यान्) (ते) तुभ्यम् (देवाः) विद्वांसः (अधारयन्)

[भोजन पदार्थ] (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

भावार्थ—गृहस्थों को योग्य है कि विद्वानों के स्थापित नियमों के अनुसार उत्तम भोजनों के सेवन से स्वस्थ रहें ॥ ६८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । २५ और उत्तरार्ध उसी के मन्त्र म० ४२ में है ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावन्तीः । तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६८ ॥

याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वन्तीः ॥ ताः । ते । सन्तु । वि-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा । अनु । मन्यताम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) उद्योग से मिली हुयी, (स्वधावन्तीः) आत्मधारण शक्ति वाली (धानाः) पोषण क्रियाओं को (अनुकिरामि) मैं अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [पोषण क्रियायें] (ते) तेरे लिये (विभ्वीः) सर्वव्यापिनी और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [पोषणक्रियाओं] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक पुरुष] (अनु) अनुकूल

धारितवन्तः (ते) कुम्भाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (स्वधावन्तः) आत्मधारण-शक्तियुक्ताः (मधुमन्तः) मधुरगुणोपेताः (घृतश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे-क्षिप् । घृतस्य साररसस्य सेचकाः ॥

६६—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । दुधाञ् धारणपोषणदानेषु—नप्रत्ययः, टाप् । पोषणक्रियाः (अनुकिरामि) कृ विक्षेपे । आनुकूल्येन विस्तारयामि (तिलमिश्राः) तिल गतौ स्नेहने च—कप्रत्ययः । तिलेन गत्या प्रयत्नेन मिश्रिताः (स्वधावन्तीः) स्वधारणशक्तिमतीः (ताः) पोषणक्रियाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (विभ्वीः) विभव्यः । सर्वव्यापिन्यः (प्रभ्वीः) प्रभव्यः । प्रभुत्वोपेताः (ताः) (ते) तुभ्यम् (यमः) संयमी

(मन्यताम्) जाने ॥ ६६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि मैं मनुष्य को अनेक विचित्र प्रभाव शाली क्रियायें सर्वत्र लगातार देता हूँ, उन को आत्मशासक संयमी पुरुष ज्ञान पूर्वक प्राप्त करे ॥ ६६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । २६ तथा ४३ ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।

यथा यमस्य सादन् आसतै विदथा वदन् ॥ ७० ॥

पुनः । देहि । वनस्पते । यः । एषः । नि-हितः । त्वयि ॥

यथा । यमस्य । सद्ने । आसतै । विदथा । वदन् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवकों के रक्षक [परमात्मन् !] [वह श्रेष्ठ गुण] (पुनः) निश्चय कर के (देहि) दे, (यः एषः) जो यह [श्रेष्ठ गुण] (त्वयि) तुझ में (निहितः) दृढ़ रक्खा है । (यथा) जिस से यह [जीव] (यमस्य) न्याय के (सद्ने) घर में (विदथा) ज्ञानों को (वदन्) बताता हुआ (आसतै) बैठे ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सर्वव्यापक उत्तम गुणों को अवश्य प्रयत्न से प्राप्त करके न्याय के साथ संसार में उपकार करे ॥ ७० ॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।

शरीरमस्य सं दुहायैनं धेहि सुकृतासु लोके ॥ ७१ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । तेजस्वत् । हरः । अस्तु । ते ॥ शरी-
रम् । अस्य । सम् । दुह । अथ । अनुम् । धेहि । सु-कृताम् ।

पुरुषः (राजा) शासकः । जीवात्मा (अनु) अनुकूलम् (मन्यताम्) जानातु ॥

७०—(पुनः) अवधारणे (देहि) प्रयच्छ श्रेष्ठगुणम् (वनस्पते) वन सेवने—अच् । हे वनानां सेवकानां पालक परमेश्वर (यः) श्रेष्ठगुणः (एषः) (निहितः) दृढं धृतः (त्वयि) (यथा) येन प्रकारेण (यमस्य) न्यायस्य (सद्ने) गृहे (आसतै) लेटि रूपम् । आसीत् । उपविशेत् (विदथा) ज्ञानानि (वदन्) कथयन् । उपदिशन् ।

जुं इति । लोके ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े ज्ञानों वाले जीव ! [धर्म को] (आ रभस्व) आरम्भ कर, (ते) तेरा (हरः) ग्रहण सामर्थ्य (तेजस्वत्) तेज वाला (अस्तु) होवे । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर को [ब्रह्मचर्य आदि तप से] (सम्) यथावत् (दह) तपा, (अथ) फिर (एनम्) इस [प्राणी] को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (उ) अवश्य (धेहि) रख ॥ ७१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म को आरम्भ कर के अपना बल पराक्रम बढ़ाते हैं; और अपने शरीर को ब्रह्मचर्य आदि तप से संयम में रखते हैं वेही पुण्यात्माओं में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरंश्च ये ।

तेभ्यो घृतस्य कुल्यास्तु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

ये । ते । पूर्वे । परा-गताः । अपरे । पितरः । च । ये ॥ तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । शत-धारा । वि-उन्दती ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) प्राचीन (च) और (ये) जो (अपरे) अर्वाचीन (पितरः) पितर [पालक महात्मा] (परागताः) प्रधानता से चले हैं । (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (शतधारा) सैकड़ों धाराओं वाली, (व्युन्दती)

७१—(आ रभस्व) उपक्रमस्व धर्मम् (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि ज्ञानानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (तेजस्वत्) प्रकाशयुक्तम् (हरः) हरतेरसुन् । ग्रहणसामर्थ्यम् । बलम् (अस्तु) (ते) तव (शरीरम्) (अस्य) प्राणिनः (सम्) सम्यक् (दह) तापय ब्रह्मचर्यादितपसा (अथ) अनन्तरम् (एनम्) प्राणिनम् (धेहि) स्थापय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोके) समाजे ॥

७२—(ये) (ते) तव (पूर्वे) प्राचीनाः (परागताः) प्राधान्येन मताः (अपरे) पश्चाद्भाविनः । अर्वाचीनाः (पितरः) पालका महात्मानः (च) (ये) (तेभ्यः) पितॄणां हिताय (घृतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ (कुल्या) कुल-यत्, यद्वा कुल बन्धे संहतौ च-क्यप्, टाप्, कृत्रिमाल्पा नदी (शत

उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ७२ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज और वर्तमान महात्माओं से गुण ग्रहण करके संसार को अनेक प्रकार आनन्द देवें, जैसे कि किसान लोग जल की नालियां बना खेतों को सींच कर अन्न की वृद्धि से सुख पहुंचाते हैं ॥ ७२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आगे है—अ० १८।४।५७ ॥

एतदा रोह वयं उन्मृजानः स्वा इह बृहद् दीदयन्ते । अभि
मेहि मध्यतो माप हास्याः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ७३ (१८)
एतत् । आ । रोह । वयः । उत्-मृजानः । स्वाः । इह ।
बृहत् । जुं इति । दीदयन्ते ॥ अभि । प्र । इहि । मध्यतः ।
मा । अप । हास्याः । पितृणाम् । लोकम् । प्रथमः । यः ।
अत्र ॥ ७३ ॥ (१८)

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (एतत्) इस (वयः) जीवन को (उन्मृ-
जानः) शुद्ध करता हुआ तू (आ रोह) ऊंचा चढ़, (ते) तेरे (स्वाः)
बान्धव लोग (इह) यहां पर (बृहत्) बहुत (हि) ही (दीदयन्ते) प्रकाशमान
हैं । तू (अभि) सब ओर (प्र) आगे को (इहि) चल, (मध्यतः) बीच से
(पितृणाम्) पितरों के (लोकम्) उस समाज को (अप) बिलगा कर (मा
हास्याः) मत जा, (यः) जो [समाज] (अत्र) यहां पर (प्रथमः)
मुख्य है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने यशस्वी बान्धवों के समान अपना जीवन उत्तम

धारा) बहुधाराभिरुपेता (व्युन्दन्ती) विशेषेण आर्द्रीकुर्वती ॥

७३—(एतत्) दृश्यामानम् (आ रोह) आरुह्य प्राप्नुहि (वयः) जीवनम्
(उन्मृजानः) परिशोधयन् (स्वाः) ज्ञातयः (इह) अस्मिंल्लोके (बृहत्) यथा
भवति तथा । अधिकम् (दीदयन्ते) दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा निघ० १।१६।
दीदयतिर्नैरुक्तो धातुः—पश्यत निरु १०।१६। दीप्यन्ते (अभि) सर्वतः (प्र)
प्रकर्षेण अग्रे (इहि) गच्छ (मध्यतः) मध्यभागात् (अप) अपेत्य विद्युज्य
(मा हास्याः) ओहाङ् गतौ—लुङ् । मा गच्छ (पितृणाम्) पालकानाम् ॥
(लोकम्) समाजम् (प्रथमः) मुख्यः (यः) लोकः (अत्र) अस्मिन् संसारे ॥

बनावें, और सब श्रेष्ठ कामों को दृढ़ता से आरम्भ कर के सर्वथा समाप्त कर महापुरुषार्थियों में स्थान पावें ॥ ७३ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः॥

सूक्तम् ४ [मन्त्राः १-८८] ॥

मन्त्राः १—१५ ॥

प्रजापतिरग्निश्च देवते ॥ १, २ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्; ३ भुरिगतिजगती; ४, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५ स्वराट् त्रिष्टुप्; ६, ८, १३ शक्वरी; ८ भुरिक् शक्वरी; १०, १५ निचृत् त्रिष्टुप्; ११ त्रिष्टुप् १२ निचृन्महाबृहती; १४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सन्मार्गं गमनोपदेशः—सत्य मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

आ रोहतु जनित्रीं जातवेदसः पितृयानैः सं वु आ रोहयामि ।
अवाङ्मुव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके । १ ।
आ । रोहतु । जनित्रीम् । जात-वेदसः । पितृ-यानैः । सम् ।
वुः । आ । रोहयामि ॥ अवाट् । हव्या । इषितः । हव्य-वाहः ।
ईजानम् । युक्ताः । सु-कृताम् । धत्त । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदसः) बड़े ज्ञान वाले तुम (जनित्रीम्) जगत् की जननी [परमात्मा] का (आ) व्याप कर (रोहत) प्रकट होआं, (पितृयानैः) पितरों [पालक महात्माओं] के मार्गों से (सम्) मिलकर (वः) तुम्हें (आ रोहयामि) मैं [विद्वान्] ऊंचा करता हूं । (इषितः) प्रिय (हव्यवाहः) देने लेने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (हव्या) देने लेने योग्य पदार्थ

१—(आ) व्याप्य (रोहत) प्रादुर्भवत (जनित्रीम्) अ० २ । १ । ३ ।
जन जनने—णिचि तृच्, डीप । जनयित्रीम् । जगतो जननीं परमात्मानम् (जातवे-
दसः) प्रसिद्धज्ञानवन्तो यूयम् (पितृयानैः) पितृणां मार्गैः (सम्) संगत्य (वः)
युष्मान् (आ रोहयामि) अधिष्ठापयामि (अवाट्) अ० १८ । ३ । ४२ । वहे-
लुङि रूपम् । अवादीत् । प्रापितवान् (हव्या) दातव्यग्राह्यवस्तूनि (इषितः)

(अवाट्) पहुंचाये हैं, (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (युक्ताः) मिले हुये तुम (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (धत्त) रक्खो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य उपदेश करें कि सब मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर अपना कर्तव्य करते हुये उच्च पद प्राप्त करें और जो पुरुष अधिक पुरुषार्थी और परोपकारी होवे, सब मिलकर धर्मात्माओं में उसकी प्रतिष्ठा करें ॥ १ ॥

देवा यज्ञमतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पृथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥२॥

देवाः । यज्ञम् । ऋतवः । कल्पयन्ति । हविः । पुरोडाशम् ।
स्रुचः । यज्ञ-आयुधानि ॥ तेभिः । याहि । पृथि-भिः । देव-
यानैः । यैः । ईजानाः । स्वः-गम् । यन्ति । लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग और (ऋतवः) सब ऋतुयें (यज्ञम्) यज्ञ [हवन आदि श्रेष्ठ व्यवहार], (हविः) हवि [होमीय वस्तु], (पुरो-डाशम्) पुरोडाश [मोहनभोग आदि], (स्रुचः) स्रुचाओं [हवन के चमचों] और (यज्ञायुधानि) यज्ञ के अस्त्र शस्त्रों [उलूखल मूसल सूप आदि] को (कल्पयन्ति) रचते हैं । [हे मनुष्य !] (तेभिः) उन (देवयानैः) विद्वानों के चक्षते योग्य (पृथिभिः) मार्गों से (याहि) तू चल, (यैः) जिन [मार्गों]

इषु इच्छायाम्—क्त । तीषसहलुभरुपरिषः । पा० ७ । २ । ४८ । इडागमः । इष्टः । प्रियः (हव्यवाहः) हव्य + वह प्रापणे—अण् । दातव्यग्राह्यपदार्थानां प्रापकः परमेश्वरः (ईजानम्) यजेर्लिटः कानच् । इष्टवन्तम् । समाप्तयज्ञं पुरुषम् (युक्ताः) संयुक्ता यूयम् (सुकृताम्) सुकर्मणाम् (धत्त) स्थापयत (लोके) समाजे ॥

२—(देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) यजनीयं व्यवहारम् (ऋतवः) वसन्तादिका-लाश्च (कल्पयन्ति) रचयन्ति (हविः) हु दानादानादनेषु—इसि । हवनीयद्रव्यम् (पुरोडाशम्) अ० ६ । ६ (१) १२ । पुरो अग्रे दाश्यते दीयते । दाशु दाने—घञ्, दस्य ङः । संस्कृतान्नविशेषम् (स्रुचः) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ—चिक् प्रत्ययः । यज्ञचमसान् (यज्ञायुधानि) यज्ञसाधनान्यस्त्रशस्त्रादीनि (तेभिः) तैः (याहि) गच्छ (पृथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गन्तव्यैः

से (ईजानाः) यज्ञ कर चुकने वाले लोग (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम्) समाज में (यन्ति) पहुंचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब ऋतुओं में योग्य सामग्री द्वारा यज्ञ करके श्रेष्ठ कर्म करते रहें और सब से कराते रहें, क्योंकि श्रेष्ठ कर्म समाप्त कर लेने वाले ही आनन्द पद के अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पृथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये
नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । पश्य । साधु । अङ्गिरसः । सु-
कृतः । येन । यन्ति ॥ तेभिः । याहि । पृथि-भिः । स्वः-गम् ।
यत्र । आदित्याः । मधु । भक्षयन्ति । तृतीयै । नाके । अधि ।
वि । श्रयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ऋतस्य) सत्य धर्म के (पन्थाम्) मार्ग को (साधु) साधुपन से [कुशलता से] (अनु) लगातार (पश्य) देख, (येन) जिस [मार्ग] से (अङ्गिरसः) महाविद्वान् (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं । (तेभिः) उन (पृथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले पद को (याहि) प्राप्त हो, (यत्र) जिन [मार्गों] में (आदित्याः) अखण्ड व्रतधारी विद्वान् लोग (मधु) ज्ञान रस को (भक्षयन्ति) भोगते हैं,

(यैः) पृथिभिः (ईजानाः) म० १ । समाप्तयज्ञाः पुरुषाः (स्वर्गम्) सुखप्राप-
कम् (यन्ति) गच्छन्ति (लोकम्) समाजम् ॥

३—(ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पन्थाम्) मार्गम् (अनु) निरन्तरम्
(पश्य) अवलोकय (साधु) यथा भवति तथा । साधुत्वेन कुशलत्वेन (अङ्गि-
रसः) महाज्ञानिनः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (येन) मार्गेण (यन्ति) गच्छन्ति
(तेभिः) तैः (याहि) प्राप्नुहि (पृथिभिः) मार्गैः (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम्
(यत्र) येषु मार्गेषु (आदित्याः) अदिति—एय । अदितिरखण्डव्रतं येषां ते
विद्वांसः (मधु) ज्ञानरसम् (भक्षयन्ति) भुञ्जते । अनुभवन्ति (तृतीये) जीव-

और (तृतीये) तीसरे [दोनों जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुखस्वरूप [वा सब के नायक] परमात्मा में (अधि) अधिकार पूर्वक (वि श्रयस्व) फैलकर विश्राम कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पुण्यात्मा पुरुषों के वेदोक्त मार्ग पर चलकर जीव प्रकृति और परमात्मा के तत्त्व को जानता हुआ आनन्द को प्राप्त हो ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (तृतीये...) आ चुका है—अ० ६।५।८॥

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतं विष्टा इषमूर्जं यजमानाय दुहाम् ॥४॥

त्रयः । सु-पर्णाः । उपरस्य । मायू इति । नाकस्य । पृष्ठे ।
अधि । विष्टपि । श्रिताः ॥ स्वः-गाः । लोकाः । अमृतं ।
वि-स्थाः । इषम् । ऊर्जम् । यजमानाय । दुहाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन [ब्रह्म जीव और प्रकृति] (सुपर्णाः) सुन्दर पालन वा पूर्ति वाले पदार्थ [अथवा सुन्दर पंख वाले पक्षियों के समान] (उपरस्य) जल के देने वाले मेघ की (मायू) गर्जन में, (नाकस्य) लोकों के चलाने वाले सूर्य के (पृष्ठे) ऊंचे भाग पर और (विष्टपि) विविध प्रकार थांनने वाले आकाश में (अधि) अधिकार पूर्वक (श्रिताः) आश्रित हैं । (अमृ-

प्रकृतिभ्यां भिन्ने (नाके) अ० १।६।२। पिनाकादयश्च । उ० ४।५१। णीञ् प्रापणे-आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रण-योऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २।१४। सुख-स्वरूपे सर्वनायके वा परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (वि) विविधम् (श्रयस्व) आभितो भव ॥

४—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः । ब्रह्मजीवप्रकृतयः (सुपर्णाः) अ० ६।६। २०। सु—पृ पालनपूरणयोः—न । शोभनपालनाः शोभनपूर्णाः शोभनपक्षविह-गसदृशा वा पदार्थाः (उपरस्य) उप—रा दानादानयोः—क । उपरो मेघनाम-निघ० १।१०। जलप्रदस्य मेघस्य (मायू) कृवापाजिमि० । उ० १।१। माऊ-माने शब्दे च—उण्, युगागमः । मायुरिति घाङ्नाम—निघ० १।११। सुपां

तेन) अमर परमात्मा के साथ (विष्ठाः) विशेष करके ठहरे हुये (स्वर्गाः) सुख पहुँचाने वाले (लोकाः) समाज (इषम्) ज्ञान को और (ऊर्जम्) बल को (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ कर्म करने वाले] के लिये (दुहाम्) भरपूर करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जीव और प्रकृति यह तीनों सब पदार्थों और सब लोकों में व्याप रहे हैं, मनुष्य सर्वनायक परमात्मा के आश्रय से उनके तत्त्व को जानकर आनन्द पावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो (द्वा सुपर्णा सयुजा.....) अ० ६ । ६ । २० तथा ऋग्वेद—१ । १६४ । २० ॥

जुहूँदाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामकामं यजमानाय दुहाम् ५
जुहूः । दाधार । द्याम् । उप-भृत् । अन्तरिक्षम् । ध्रुवा ।
दाधार । पृथिवीम् । प्रति-स्थाम् ॥ प्रति । इमाम् । लोकाः ।
घृत-पृष्ठाः । स्वः-गाः । कामम्-कामम् । यजमानाय । दुहाम् ५

भाषार्थ—(जुहूः) ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति [परमात्मा] ने (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को, (उपभृत्) समीप से धारण करने वाली [उसी]

सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६। सप्तम्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १६। इति प्रगृह्यम् । मायौ । शब्दे (नाकस्य) म० ३ । लोकानां नायकस्य सूर्यस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (अधि) अधिकृत्य (विष्टपि) अ० १० । १० । ३१। वि—ष्टभि प्रतिबन्धे—क्विप्, भस्य पः । विविधस्तम्भनशीले । आकाशे । (भिताः) स्थिताः (स्वर्गाः) सुखप्रापकाः (लोकाः) समाजाः (अमृतेन) अमरेण परमात्मना (विष्ठाः) विशेषेण स्थिताः (इषम्) इष गतौ—क्विप् । इषतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । ज्ञानम् (ऊर्जम्) बलम् (यजमानाय) यज्ञस्यानुष्ठात्रे (दुहाम्) अ० ३ । २० । ६ । दुह प्रपूरणे तलोपो रुडागमश्च । दुहताम् । प्रपूरयन्तु ॥

५—(जुहूः) हुवः श्लुवच्च । उ० २ । ६० । हु दानादानादनेषु—क्विप् । प्रहीत्री शक्तिः परमात्मा (द्याम्) प्रकाशमान सूर्यम् (उपभृत्) सामीप्येन

शक्ति ने (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश को (दाधार) धारण किया है, और (ध्रुवा) [उसी] निश्चल शक्ति ने (प्रतिष्ठाम्) आश्रय स्थान, (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया है । (इमाम्) इसी [शक्ति परमात्मा] में (प्रति) व्याप कर (घृतपृष्ठाः) प्रकाश को ऊपर रखने वाले [सुन्दर ज्योति वाले] (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले (लोकाः) लोक [समाज वा अधिकार] (कामंकामम्) प्रत्येक कामना को (यजमानाय) यजमान [भ्रष्ट व्यवहार करने वाले] के लिये (दुहाम्) भरपूर करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सूर्य को अनेक लोकों का आकर्षक, आकाश को सब लोकों का आधार और पृथिवी को प्राणियों का निवास स्थान बनाया है, उस जगदीश्वर के आश्रय में रहकर यह सब लोक पुरुषार्थी धर्मात्मा मनुष्य के लिये बड़े ज्योतिष्मान् होकर शुभ कामनायें पूरी करते हैं ॥ ५ ॥

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं सुवेण वृत्सेन दिशः प्रपीनाः
सर्वा ध्रुवाहणीयमानः ॥ ६ ॥

ध्रुवे । आ । रोह । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । अन्तरिक्षम् ।
उप-भृत् । आ । क्रमस्व ॥ जुहु । द्याम् । गच्छ । यजमानेन ।
साकम् । सुवेण । वृत्सेन । दिशः । प्र-पीनाः । सर्वाः । ध्रुव ।
अहणीयमानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवे) हे निश्चल शक्ति ! [परमात्मा] (विश्वभोजसम्) सब को पालन वाली (पृथिवीम्) पृथिवी में (आ) व्याप कर (रोह) प्रकट

धारयित्री शक्तिः (अन्तरिक्षम्) अन्तर्मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (ध्रुवा) ध्रु गतिस्थैर्ययोः—क, टाप । निश्चला शक्तिः (दाधार) (पृथिवीम्) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयभूताम् (इमाम्) शक्तिम् (लोकाः) समाजाः । अधिकाराः (घृतपृष्ठाः) घृ क्षरणदीप्त्योः—क्त । दीप्तोपरिभागाः । सर्वतो ज्योतिष्मन्तः (स्वर्गाः) सुख-प्रापकाः (कामंकामम्) प्रत्येककामनाम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ॥ ४ ॥

६—(ध्रुवे) म० ५ । हे निश्चलशक्ते । परमात्मन् (आ) व्याप्य (रोह) प्रादुर्भव (पृथिवीम्) (विश्वभोजसम्) सर्वस्य भोजयित्रीं पालयित्रीम् (अन्त-

हो, (उपभृत्) हे समीप से धारण करने वाली शक्ति ! (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश में (आ) व्यापकर (क्रमस्व) प्राप्त हो । (जुहु) हे ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति ! (यजमानेन साकम्) यजमान [श्रेष्ठ व्यवहार करने वाले] के साथ (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को (गच्छ) प्राप्त हो,

[हे यजमान !] (अहणीयमानः) संकोच न करता हुआ तू (वत्सेन) बछड़े रूप (स्रुवेण) ज्ञान के साथ (सर्वाः) सब (प्रपीनाः) बढ़ती हुयी (दिशः) दिशाओं को (ध्रुव) दुह ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा नीचे ऊंचे और मध्य लोक में व्याप कर धर्मात्मा पुरुष का सदा सहायक है, मनुष्य ज्ञान द्वारा सब दिशाओं से इस प्रकार उपकार लेवे जैसे बछड़े को लगाकर गौ से दूध दुहते हैं ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।

अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

तीर्थैः । तरन्ति । प्र-वतः । महीः । इति । यज्ञ-कृतः । सु-

कृतः । येन । यन्ति ॥ अत्र । अदधुः । यजमानाय । लोकम् ।

दिशः । भूतानि । यत् । अकल्पयन्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तीर्थैः) तरने के साधनों [शास्त्रों वा घाटों आदि] द्वारा [मनुष्य] (प्रयतः) बहुत गतियों वाली (महीः) बड़ी [विपत्तियों वा नदियों]

रिक्षम्) मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (उपभृत्) हे समीपधारयित्री शक्ते (आ) (क्रमस्व) प्राप्नुहि (जुहु) म० ५ । हे ग्रहीत्री शक्ते (द्याम्) प्रकाशमानां सूर्यम् (गच्छ) प्राप्नुहि (यजमानेन) (साकम्) (स्रुवेण) स्रुवः कः । उ० २ । ६१ । स्रु गतौ—क । ज्ञानेन (वत्सेन) गोशिशुरूपेण (दिशः) प्राच्याद्याः (प्रपीनाः) ओ प्यायी वृद्धौ—क्त । प्रवृद्धाः (सर्वाः) (ध्रुव) प्रपूरय (अहणीयमानः) हणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । लज्जां संकोचम् अकुर्वन् ॥

७—(तीर्थैः) पातृतुदिवचि० । उ० २ । ७ । तृ तरणे—थक् । तरण-साधनैः शास्त्रैर्घटादिभिर्वा (तरन्ति) अतिक्रामन्ति (प्रवतः) अ० १८ । १ । ४६ ।

को [उस प्रकार से] (तरन्ति) पार करते हैं, (येन) जिससे (यज्ञकृतः) यज्ञ करने वाले, (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं—(इति) ऐसा [निश्चय है] । (अत्र) यहां [संसार में] (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) स्थान (अदधुः) उन [पुरायात्माओं] ने दिया है, (यत्) जब कि (दिशः) दिशाओं को (भूतानि) सत्ता वाले प्राणियों ने (अकल्पयन्त) समर्थ बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् धर्मात्माओं के वेद विहित मार्ग पर चल कर विपत्तियों से पार होवें । धर्मात्मा लोग ही संसार में मान्य होते हैं, क्योंकि वे पुरुषार्थी जीव सब दिशाओं को उपकारी बनाते हैं ॥ ७ ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वा अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षि-
णानामयनं दक्षिणाग्निः । मुहिमानमुग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा
समङ्गः सर्व उप याहि शुग्मः ॥ ८ ॥

अङ्गिरसाम् । अयनम् । पूर्वः । अग्निः । आदित्यानाम् । अय-
नम् । गार्हपत्यः । दक्षिणानाम् । अयनम् । दक्षिण-अग्निः ॥
मुहिमानम् । अग्नेः । वि-हितस्य । ब्रह्मणा । सम्-अङ्गः ।
सर्वः । उप । याहि । शुग्मः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अङ्गिरसाम्) महर्षियों का (अयनम्) मार्ग (पूर्वः) पूर्वीय (अग्निः) अग्नि है, (आदित्यानाम्) [उन्हीं] अखण्ड व्रत वाले ब्रह्मचारियों का (अयनम्) मार्ग (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि है, (दक्षिणानाम्) [उन्हीं]

प्रकृष्टगतियुक्ताः (महीः) महतीर्विपत्तीर्नदीर्वा (इति) अवधारणे (यज्ञकृतः) यज्ञस्य कर्तारः (सुकृतः) पुराणकर्माणः (येन) प्रकारेण (यन्ति) गच्छन्ति (अदधुः) दत्तवन्तः (यजमानाय) (लोकम्) स्थानम् (दिशः) प्राच्याद्याः (भूतानि) सत्तावन्तः प्राणिनः (यत्) यदा (अकल्पयन्त) समर्था अकुर्वन्त ॥

८—(अङ्गिरसाम्) महर्षीणाम् (अयनम्) मार्गः (पूर्वः) पूर्वायां दिशि वर्तमानः (अग्निः) होमाग्निः (आदित्यानाम्) अखण्डब्रह्मचारिणाम् (अयनम्) मार्गम् (गार्हपत्यः) गृहपति—ज्य । गृहपतिना संयुक्तो यज्ञाग्निः (दक्षिणा—

कार्य कुशलौ का (अयनम्) मार्ग (दक्षिणाग्निः) दक्षिण वाली अग्नि है।
 (ब्रह्मणा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाले] कर के (विहितस्य) स्थापित
 (अग्नेः) अग्नि की (महिमानम्) महिमा को (समङ्गः) दृढ़ाङ्ग, (सर्वः) सम्पूर्ण
 [चित्त वाला] और (शग्मः) शक्तिमान् होकर तू (उप याहि) सर्वथा प्राप्त
 कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यज्ञ में ब्रह्मा की स्थापित पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि
 को प्रकाशित करने से विद्वान् लोग आत्मिक उन्नति करके सब प्रकार शक्ति-
 मान् होवें ॥ ८ ॥

पूर्वा अग्निष्टौ तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
 दक्षिणाग्निष्टौ तपतु शम् वसोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद्
 दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥ ८ ॥

पूर्वः । अग्निः । त्वा । तपतु । शम् । पुरस्तात् । शम् ।
 पश्चात् । तपतु । गार्हपत्यः ॥ दक्षिण-अग्निः । ते । तपतु ।
 शम् । वम् । उत्तरतः । मध्यतः । अन्तरिक्षात् । दिशः-दिशः ।
 अग्ने । परि । पाहि । घोरात् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (पूर्वः) पूर्व वाली (अग्निः) अग्नि
 (त्वा) तुझे (शम्) आनन्द के साथ (पुरस्तात्) आगे से (तपतु)
 प्रतापी [ऐश्वर्यवान्] करे, (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि [तुझे] (शम्)

नाम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थं च—इनन् । दक्षिणां
 कार्यकुशलानाम् (दक्षिणाग्निः) दक्षिणदिशि वर्तमानोऽग्निः (महिमानम्)
 महत्त्वम् (अग्नेः) भौतिकस्य (विहितस्य) यथाविधि स्थापितस्य (ब्रह्मणा)
 चतुर्वेदज्ञेन (समङ्गः) संहतावयवः । दृढाङ्गः (सर्वः) समस्तः । समाहित-
 चित्तः (उप याहि) सर्वथा प्राप्नुहि (शग्मः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ ।
 १४६ । शक्ल - शक्तौ—मक् कस्य गः । शक्तः । समर्थः ॥

६—(पूर्वः) पूर्वदिशि दीप्यमानः (अग्निः) यज्ञाग्निः (त्वा) (तपतु)
 तप ऐश्वर्ये, अन्तर्गतार्थः । ऐश्वर्यवन्तं प्रतापिनं करोतु (शम्) सुखेन
 (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (पश्चात्) (तपतु) (गार्हपत्यः) गृहपतिना

सुख के साथ (पश्चात्) पीछे से (तपतु) प्रतापी करे । (दक्षिणाग्निः) दक्षिणीय अग्नि (ते) तेरे लिये (शर्म) शरण और (वर्म) कवच होकर (तपतु) प्रतापी करे ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (उत्तरतः) ऊपर से (मध्यतः) मध्य से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से और (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से [उस उपासक को] (घोरात्) घोर [भयानक कष्ट] से (परि) सर्वथा (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भौतिक यज्ञ द्वारा आत्मिक यज्ञ सिद्ध करके समर्थ होते हैं, परमात्मा उनकी सर्वथा रक्षा करता है ॥ ६ ॥

यूयसंग्रे शन्तमाभिस्तुनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहायु यत्र देवैः सधुमादं मदन्ति १०(२०)
यूयम् । अग्रे । शम्-तमाभिः । तुनूभिः । ईजानम् । अभि ।
लोकम् । स्वः-गम् ॥ अश्वाः । भूत्वा । पृष्टि-वाहः । वहायु ।
यत्र । देवैः । सधु-मादम् । मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अग्ने=अग्नयः) हे अग्नियो ! (यूयम्) तुम (पृष्टिवाहः) पीठ पर ले चलने वाले (अश्वाः) घोड़ों के समान (भूत्वा) होकर (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्ति युक्त (तनूभिः) उपकार क्रियाओं से (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि)

संयुक्तोऽग्निः (ते) तुभ्यम् (शर्म) शरणरूपः सन् (वर्म) कवचरूपः सन् (उत्तरतः) उपरिदेशात् (मध्यतः) मध्यदेशात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (दिशोदिशः) प्रत्येकदिशः सकाशात् (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (परि) सर्वथा (पाहि) रक्ष (घोरात्) घुर भीमार्थशब्दयोः—अच् । भयानकात् कष्टात् ॥

१०—(यूयम्) (अग्ने) बहुवचनस्यैकवचनम् । हे पूर्वाग्न्यादयः (शन्तमाभिः) अत्यन्तसुखयुक्ताभिः (तनूभिः) उपकृतिभिः । (ईजानम्) समाप्त-यज्ञं पुरुषम् (अभि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम्- (अश्वाः) अश्वा यथा (भूत्वा) (पृष्टिवाहः) पृष्ठ सेचने—क्तिन् । वहश्च ।

समाज में (वहाथ) ले जाओ, (यत्र) जहां पर (देवैः) विद्वानों के साथ (सधमादम्) संगति सुख को (मदन्ति) वे [विद्वान्] भोगते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि यज्ञ के द्वारा मनुष्य आत्मिक और शरीरिक दोषों की निवृत्ति से अत्यन्त शान्तचित्त होकर विद्वानों में मिल कर आनन्द भोगें ॥ १० ॥

शम॑ग्ने प॒श्चात् त॑पु शं पुर॒स्ताच्च॑मु॒त्तरा॑च्च॒मध॑रात् त॑पैनम् ।
एक॑स्त्रे॒धा वि॑हितो जा॒तवे॑दः सु॒म्यगे॑नं धे॒हि सु॒कृता॑सु लोके ११
शम् । अ॒ग्ने । प॒श्चात् । त॒पु । शम् । पुर॒स्तात् । शम् । उ॒त्त॒-
रात् । शम् । अ॒ध॒रात् । त॒पु । ए॒नम् ॥ एकः॑ । त्रे॒धा ।
वि-हितः । जा॒त-वे॒दः । सु॒म्यक् । ए॒नम् । धे॒हि । सु-कृ॒ताम् ।
ज॒ इति॑ । लोके ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (एनम्) इस [विद्वान्] को (शम्) शान्ति के साथ (पश्चात्) पीछे से, (शम्) शान्ति के साथ (पुरस्तात्) सामने से (तप) प्रतापी कर, (शम्) शान्ति के साथ (उत्तरात्) ऊपर से और (शम्) शान्ति के साथ (अधरात्) नीचे से (तप) प्रतापी कर । (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान [अग्नि] (एकः) अकेला होकर (त्रेधा) तीन प्रकार से [पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूप से] (विहितः) स्थापित किया हुआ तू (एनम्) इस [पुरुष] को (सुकृताम्)

पा० ३ । २ । ६४ । पृष्टि+वह प्रापणे—एव । पृष्ठे षाहकाः (वहाथ) लेटि रूपम् । वहत । गमयत (यत्र) (देवैः) विद्वद्भिः (सधमादम्) संगतिसुखम् (मदन्ति) हर्षयन्ति ॥

११—(शम्) शान्त्या । सुखेन (अग्ने) हे यज्ञाग्ने (पश्चात्) पृष्ठतः (तप) तप पेश्वर्ये । तापय । प्रतापिनं कुरु (शम्) (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (उत्तरात्) उपरिदेशात् (शम्) (अधरात्) अधोगतदेशात् (तप) (एनम्) पुरुषम् (एकः) एकसंख्याकः (त्रेधा) त्रिप्रकारेण । पूर्वाग्निगार्हपत्यदक्षिणाग्नि-रूपेण (विहितः) स्थापितः (जातवेदः) विद सत्तायाम्—असुन् । हे जातेषु

सुकर्मियों के (उ) ही (लोके) समाज में (सम्यक्) ठीक रीति से (धेहि)
रख ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि हवन आदि यज्ञ द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में करके पुण्यात्मा पुरुषों में स्थान पावें ॥ ११ ॥

शमग्रयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं ज्ञातवैदसः ।

शुतं कणवन्तं इह मावं चिह्नापन् ॥ १२ ॥

शम् । अग्नयः । सप्त-इन्द्राः । आ । रभन्ताम् । प्राजा-पत्यम् ।

मेध्यम् । ज्ञात-वेदसः । शुतम् । कण्वन्तः । इह । मा । अर्वा ।

चिसिपन् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुयी और (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (शम्) शान्ति के साथ (आ) सब ओर से (रभन्ताम्) उत्साही करें । और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृण्वन्तः) करती हुयी [अग्नियां] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने दें ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य यज्ञ में पूर्वोक्त पूर्वादि तीनों अग्नियों को यथा—
विधि प्रज्वलित करते हैं, वे ब्राह्मण अपने आचरण को शुद्ध कर के पके शानी
होकर संसार में नीचे नहीं गिरते ॥ १२ ॥

उत्पन्नेषु विद्यमानाग्ने (सम्यक्) यथा तथा । समीचीनम् (एनम्) यजमानम्
(धेहि) धारय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) पथ (लोके) समाजे ॥

१२—(शम्) सुखेन (अग्नयः) पूर्वोक्तिपूर्वाग्न्यादयः (समिद्धाः)
सम्यक् प्रकाशिताः (आ) समन्तात् (रभन्ताम्) रभ राभस्ये, औत्सुक्ये ।
रभसो महश्नाम—निघ० ३ । ३ । उत्सुकमुत्साहिनं कुर्वन्तु (प्राजापत्यम्)
प्रजापतिः परमात्मा देवता यस्य तम् (मेध्यम्) मेधु मेधाहिंसनयोः—एयत् ।
पघिन्नम् (जातवेदसः) उत्पन्नपदार्थेषु विद्यमानाः (शृतम्) परिपक्वम् । दृढस्व-
भावम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (मा अव चिद्धिपन्) अ० १८ । २ । ४ । क्षिप-

१०८ विष्णुः शेषां मा कर्तव्यम् ।

युञ्ज एति विततः कल्पमान ईजानम्भि लोकं स्वर्गम् ।

तमग्नेयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।

शृतं कृणवन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

युञ्जः । एति । वि-ततः । कल्पमानः । ईजानम् । अग्नि ।

लोकम् । स्वः-गम् ॥ तम् । अग्नेयः । सर्व-हुतम् । जुषन्ताम् ।

प्राजा-पत्यम् । मेध्यम् । जात-वेदसः ॥ शृतम् । कृणवन्तः ।

इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(विततः) फैला हुआ (यज्ञः) यज्ञ (कल्पमानः) समर्थ होकर (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अग्नि) समाज में (एति) पहुंचाता है । (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नेयः) अग्नियों (तम्) उस (सर्वहुतम्) पूर्ण आहुति दे चुकने वाले, (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले, (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (जुषन्ताम्) सन्तुष्ट करें । और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृणवन्तः) करती हूँ [अग्नियों] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने दें ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त अग्नियों में हवन करके पूर्ण आहुति से यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ, इन पांच महायज्ञों को समाप्त करने वाला पुरुष परमात्मा की भक्ति करता हुआ अनेक आनन्दों से ऊंचा होता जाता है ॥ १३ ॥

१३—(यज्ञः) यज्ञ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—नङ् । इज्यते हविर्दी-यतेऽत्र । ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञपितृयज्ञभूतयज्ञनृयज्ञानां समुदायः (एति) अन्तर्गत-स्यर्थः । गमयति (विततः) विस्तृतः (कल्पमानः) समर्थः सन् (ईजानम्) समाप्तयज्ञं पुरुषम् (अग्नि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (तम्) (अग्नेयः) पूर्वाग्न्यादयः—म० ४ (सर्वहुतम्) सर्व हुतं यज्ञे हविर्दत्तं येन तं कृतपूर्णाहुतिकम् (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु ।

ई॒ जान॑श्चित॒मारु॑दादु॒ग्निं नाक॑स्य पृ॒ष्ठाद् दिव॑मुत्प॒तिष्यन् ।
तस्मै॑ प्र भा॒ति नभ॑सो ज्योति॒षीमा॑न्तस्व॒र्गः पन्थाः॑ सु॒कृते॑
देव॒यानः॑ ॥ १४ ॥

ई॒ जानः॑ । चि॒तम् । आ । अ॒रुक्ष॑त् । अ॒ग्निम् । नाक॑स्य ।
पृ॒ष्ठात् । दिव॑म् । उ॒त्-प॒तिष्यन् ॥ तस्मै॑ । प्र । भा॒ति ।
नभ॑सः । ज्योति॒षी-मा॑न् । स्व॒र्गः-गः । पन्थाः॑ । सु-कृ॒ते ।
देव॒-यानः॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ईजानः) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष ने (नाकस्य) अत्यन्त सुख के (पृष्ठात्) ऊपरी स्थान से (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा की ओर (उत्पतिष्यन्) चढ़ने की इच्छा करके, (चितम्) चुनी हुयी (अग्निम्) अग्नि को (आ) सब ओर (अरुक्षत्) प्रकट किया है । (तस्मै) उस (सुकृते) सुकृती पुरुष के लिये (नभसः) आकाश से [खुले स्थान से] (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्मती बुद्धि वाला (स्वर्गः) सुख पहुँचाने वाला, (देवयानः) विद्वानों के चलने योग्य (पन्थाः) मार्ग (प्र भाति) चमकता जाता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जब अनुष्य अत्यन्त सुख से परमात्मा की प्राप्ति में ऊँचा होकर अपनी कर्तव्यरूप यज्ञ पूरा कर चुकता है, उसकी बुद्धि ऐसी चमकती है जैसे सूर्य खुले निर्मल आकाश में ॥ १४ ॥

अ॒ग्निर्हो॑ताध्व॒र्युष्टे॑ बृ॒हस्प॑तिरिन्द्रो ब्र॒ह्मा दक्षि॑णतस्ते॒ अस्तु ।
हुतोऽयं॑ संस्थितो य॒ज्ञ ए॒ति य॒ज्ञ पूर्वं॑ मय॑नं हु॒ताना॑म् ॥ १५ ॥

१४—(ईजानः) समाप्तयज्ञः पुरुषः (चितम्) हवनपदार्थैः संचितम् (आ) समन्तात् (अरुक्षत्) प्रादुष्कृतवान् (अग्निम्) यज्ञाग्निम् (नाकस्य) अतिसुखस्य (पृष्ठात्) उपरिदेशात् (दिवम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्पतिष्यन्) उत्पतितुमूर्ध्वगन्तुमिच्छन् सन् (तस्मै) (प्र) प्रकर्षेण (भाति) दीप्यते (नभसः) निर्मलाकाशादित्यर्थं (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्—अर्शआद्यच्, डीप्, मतुप् । ज्योतिष्मती बुद्धिर्यस्मिन् सः (स्वर्गः) सुखप्रापकः (पन्थाः) मार्गः । (देवयानः) विद्वद्भिर्गमनयोग्यः ॥

अग्निः । होता । अध्वर्युः । ते । बृहस्पतिः । इन्द्रः । ब्रह्मा ।
दक्षिणतः । ते । अस्तु ॥ हुतः । अयम् । सम्-स्थितः ।
यज्ञः । एति । यत्र । पूर्वम् । अयनम् । हुतानाम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (अग्निः) [एक] विद्वान् पुरुष (होता) होता [मन्त्रों से आहुति देने वाला], (बृहस्पतिः) [एक] बृहस्पति [विद्वानों का पालन कर्ता] (अध्वर्युः) अध्वर्यु [यज्ञ कराने वाला] (इन्द्रः) [एक] परम ऐश्वर्यवान् महाविद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला यज्ञनिरीक्षक पुरुष] (ते) तेरी (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (अस्तु) होवे । (अयम्) यह (हुतः) आहुति दिया गया और (संस्थितः) पूरा किया गया (यज्ञः) यज्ञ (एति) [वहां] जाता है, (यत्र) जहां (हुतानाम्) आहुति दिये हुये [यज्ञों] का (पूर्वम्) मुख्य (अयनम्) जाना होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—विद्वान् यजमान वेदवेत्ता विद्वानों को होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ऋत्विज अधिकारी बना कर प्राचीन महात्माओं की रीति से यज्ञ को यथा-वधि समाप्त और सुफल करे ॥ १५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो ऋग्वेद-१० । ७१ । ११ से, जो यहां लिखा जाता है और जिसकी व्याख्या भगवान् यास्कमुनि ने-निरु० १ । ८ में की है ॥

१५—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (होता) आहुतिदाता (अध्वर्युः) मृगय्वा-
दयश्च । उ० १ । ३७ । अध्वर + या प्रापणे-कु, अकारलोपः । यद्वा, अध्वर-श्चच्
कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इत्यन्त्यलोपः । कयाञ्छन्दसि ।
पा० ३ । २ । १७० । उपत्ययः । अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेताऽध्वरं
कामयत इति वा । अपि बाध्रीयाने युरूपबन्धः—निरु० १ । ८ । याजकः (ते)
तुभ्यम् (बृहस्पतिः) बृहतां विदुषां पालकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । महावि-
द्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्व वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म
परिवृढं सर्वतः—निरु० १ । ८ । चतुर्वेदज्ञः (दक्षिणतः) अवामभागे (ते) तव
(अस्तु) (हुतः) आहुत्या निष्पादितः (अयम्) (संस्थितः) समापितः (यज्ञः)
(एति) गच्छति (यत्र) (पूर्वम्) मुख्यम् (अयनम्) गमनम् (हुतानाम्)

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्नीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

(त्वः) एक [होता] (ऋचाम्) ऋचाओं के (पोषम्) विधान की (पुपु-
ष्वान्) पुष्टि करता हुआ (आस्ते) बैठता है, (त्वः) एक [उद्गाता] (गाय-
त्रम्) गाने योग्य [स्तोत्र] को (शक्नीषु) शक्तिवाली ऋचाओं में (गायति)
गाता है । (त्वः) एक (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब विद्याएँ जानने वाला] (जातविद्याम्)
होते हुये कर्म में विद्या (वदति) बताता है, (त्वः) एक [अध्वर्यु] (यज्ञस्य)
यज्ञ के (मात्राम्) परिमाण को (उ) ही (वि) विविध प्रकार (मिमीते)
बनाता है ॥

मन्त्राः १६—२७ ॥

यज्ञो देवता ॥ १ —२४ भुरिगार्धी बृहती ; २५ अनुष्टुप् ; २६ निचृदाचीं
बृहती ; २७ याजुषी गायत्री ॥

यजमानकर्तव्योपदेशः—यजमान के कर्तव्य का उपदेश ॥

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुः सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजा-
महे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥

अपूप-वान् । क्षीर-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-
कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः ।
इह । स्थ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी
आदि] वाला, (क्षीरवान्) दूध वाला (चरुः) चरु [स्थालीपाक] (इह)
यहां [वेदी पर] (आ सीदतु) आवे । (लोककृतः) समाजों के करने वाले,
(पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते

१६—(अपूपवान्) पानीविशिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ् + पूयी
विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । सुसंस्कृतभोजनपदार्थयुक्तः (क्षीर-
वान्) दुग्धवान् (चरुः) भृमृशीङ्तृचरि० । उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः—
उप्रत्ययः । चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः—निरु० ६ । ११ ।

हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—यजमान को योग्य है कि विद्वानों को मत्कार पूर्वक बुलाकर शुद्ध, सुगन्धित, पुष्टिकारक मोहन भोग मालपूये आदि पदार्थों के स्थालीपाक से यज्ञ करे ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—अ० १८ । ३ । २५—३५ ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुः सीदतु । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥

अपूप-वान् । दधि-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूर्ण [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (दधिवान्) पुष्टि कारक पदार्थों वाला (चरुः) चरु..... [मन्त्र १६] ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १७ ॥

अपूपवान् द्रुपसवांश्चरुः सीदतु । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥

अपूप-वान् । द्रुप-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १८ ॥

चरुर्मघनाम—निघ० १ । १० । यज्ञपाकः (इह) अत्र वेद्याम् (आ सीदतु) आ गच्छतु । तिष्ठतु । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । २५ ॥

१७—(दधिवान्) आदृगमहनवर्तः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डु धाञ् धारणपोषणयोः—किन्प्रत्ययः । पोषकपदार्थगुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (द्रव्यवान्) हर्षकारक द्रव्यों वाला (चरुः) चरु.....[मन्त्र १६] ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १८ ॥

अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥

अपूप-वान् । घृत-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानां । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (घृतवान्) घृत वाला (चरुः) चरु.....[मन्त्र १६] ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १८ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)

अपूप-वान् । मांस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानां । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २० ॥ (२१)

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (मांसवान्) मननसाधक पदार्थों वाला [अर्थात् बुद्धिवर्धक जैसे मीठे फल बांदाम, अलोट आदि वस्तुओं वाला] (चरुः) चरु [मन्त्र १६] ॥ २० ॥

१८—(द्रव्यवान्) अ० १८ । १ । २१ । हर्षकारकद्रव्ययुक्तः । अन्यत्-पूर्ववत्—म० १६ ॥

१८—(घृतवान्) आज्येन युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२०—(मांसवान्) अ० ६ । ६ (३) ६ । मनेर्दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ । मन ज्ञाने—सप्रत्यो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्दसीदतीति वा—निरु० ४ । ३ । मननसाधकेन बुद्धिवर्धकवस्तुना युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—

म० १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २० ॥

अ॒प॒प॒वा॒न॒न्न॒वांश्च॒रु॒रेह॑ सी॒दतु॑ । लो॒क॒कृ॒तः॑ प॒थि॒कृ॒तो॑ य॒जाम॑हे॒ ये
दे॒वा॒नां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॑ ॥ २१ ॥

अ॒प॒प॒-वा॒न् । अ॒न्न॒-वा॒न् । च॒रुः॑ । आ॒ । इ॒ह । सी॒दतु॑ ॥ लो॒क॒-
कृ॒तः॑ । प॒थि॒-कृ॒तः॑ । य॒जाम॑हे । ये । दे॒वा॒नाम् । हु॒त-भा॑गाः ।
इ॒ह । स्थ॑ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूर्णों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी
आदि] वाला, (अन्नवान्) अन्न [जौ, चावल, गेहूं, उरद आदि] वाला (चरुः)
चरु (मन्त्र १६) ॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २१ ॥

अ॒प॒प॒वा॒न् म॒धु॑मांश्च॒रु॒रेह॑ सी॒दतु॑ । लो॒क॒कृ॒तः॑ प॒थि॒कृ॒तो॑ य॒जा-
म॑हे॒ ये दे॒वा॒नां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॑ ॥ २२ ॥

अ॒प॒प॒-वा॒न् । म॒धु॑-मा॒न् । च॒रुः॑ । आ॒ । इ॒ह । सी॒दतु॑ ॥ लो॒क॒-
कृ॒तः॑ । प॒थि॒-कृ॒तः॑ । य॒जाम॑हे । ये । दे॒वा॒नाम् । हु॒त-भा॑गाः ।
इ॒ह । स्थ॑ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूर्णों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी
आदि] वाला, (मधुमान्) मधु [मक्खियों का रस] वाला (चरुः) चरु
[मन्त्र १६] ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २२ ॥

अ॒प॒प॒वा॒न् र॒स॒वांश्च॒रु॒रेह॑ सी॒दतु॑ । लो॒क॒कृ॒तः॑ प॒थि॒कृ॒तो॑ य॒जा-

२१—(अन्नवान्) अदनीयपदार्थयुक्तः । यवव्रीहिगोधूममाषादियुक्तः ।
अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२२—(मधुमान्) मालिकरसयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

महे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥

अपूप-वान् । रस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-
कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः ।
इह । स्थ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपे [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी
आदि] वाला, (रसवान्) रस वाले [वीर्यवर्धक शर्करा आदि] पदार्थों
वाला (चरुः) चरु [मन्त्र १६] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २३ ॥

अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पृथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥

अपूप-वान् । अपवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-
कृतः । पृथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः ।
इह । स्थ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपे [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी
आदि] वाला, (अपवान्) शुद्धजल वाला (चरुः) चरु [मन्त्र १६] ॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २४ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्रुतः ॥ २५ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥
ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्रुतः ॥ २५ ॥

२३—(रसवान्) वीर्यवर्धकशर्करादिपदार्थयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १६ ॥

२४—(अपवान्) आप्ल व्याप्तौ—घञ् । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट्
च वा । उ० ४ । २०८ । इति निर्देशेन ह्रस्वः । अपस्वान् । शुद्धजलयुक्तः । अन्यत्
पूर्ववत्—म० १६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्) पात्रों को (ते) तेरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है । (ते) वे [भोजन पदार्थ] (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सुन्दर पौष्टिक पदार्थों से यज्ञ करें, जिससे वायु मण्डल शुद्ध होने पर उत्तम बलदायक अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होवें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तुद्भवीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥
याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वतीः ॥
ताः । ते । सन्तु । उत्-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः ।
राजा । अनु । मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षिति भूयसीम् ॥ २७ ॥ अक्षितिम् । भूयसीम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) [अग्नि में] मैं [ऋत्विज] अनुकूल रीति से फैलाता हूँ । (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भवीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वी) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक अर्थात् याजक पुरुष] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने

२५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

२६—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) दधातेर्नप्रत्ययः, टाप् । सुसंस्कृत-पौष्टिकपदार्थान् (अनुकिरामि) आनुकूल्येन क्षिरामि प्ररुयामि (तिलमिश्राः) तिलैर्मिश्रिताः (स्वधावतीः) उत्तमाश्चुक्ताः (ताः) (सन्तु) (उद्भवीः)

॥ २६ ॥ [और वह उनको] (भूयसीम्) अधिकतर (अक्षितिम्) क्षय रहित क्रिया [निरन्तर जाने] ॥ २७ ॥

भावार्थ—यज्ञ कराने वाला पुरुष यथाविधि संशोधित तिल, जौ, चावल आदि जिन सामग्रियों से हवन करता है, उस के द्वारा वायुमण्डल की शुद्धि से संसार का उपकार और यजमान का अधिक पुण्य होता है—
२६, २७ ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० १८ । ४ । ४३ और कुछ भेद से आ चुका है—
अ० १८ । ३ । ६६ ॥

मन्त्रौ २८, २९ ॥

ईश्वरो देवता ॥ २८ त्रिष्टुप् ; २९ निचृज्जगती ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

द्रुप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रुप्सं जुहोम्यनु सुप्त होत्राः ॥२८॥
द्रुप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च ।
योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः ॥ समानम् । योनिम् अनु ।
सुप्त-चरन्तम् । द्रुप्सम् । जुहोमि । अनु । सुप्त । होत्राः ॥२८

भाषार्थ—(द्रुप्सः) हर्षकारक परमात्मा (पृथिवीम्) पृथिवी और (द्याम् अनु) प्रकाश में (च) और (इमम्) इस (योनिम् अनु) घर [शरीर] में (च) और [उस शरीर में भी] (चस्कन्द) व्यापक है (यः) जो [शरीर] (पूर्वः) पहिला है । (समानम्) समान [सर्वसाधारण] (योनिम् अनु)

उद्भूयः । उदयं भावयिष्यः । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । ६६ ॥

२७—(अक्षितिम्) क्षयरहितां क्रियाम् (भूयसीम्) अधिकतराम् ॥

२८—(द्रुप्सः) अ० १८ । १ । २१ । दृप् हर्षमोहनयोः । हर्षकारी परमात्मा (चस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः लिट् । स्कन्दति । गच्छति । व्याप्नोति (पृथिवीम्) (अनु) प्रति (द्याम्) प्रकाशम् (इमम्) दृश्यमानम् (च) (योनिम्) गृहम् । शरीरम् (अनु) प्रति (यः) योनिः । शरीरम् (च) (पूर्वः) पूर्वमुत्पन्नः (समानम्) तुल्यम् । सर्वसाधारणम् (योनिम्) कारणम्

कारण में (संचरन्तम्) विचरते हुये (द्रप्सम्) हर्षकारक परमात्मा को (सप्त) सात [मस्तक के सात गोलक] (होत्राः अनु) विषय ग्रहण करने वाली शक्तियों के साथ (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूँ ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अन्धकार और प्रकाश में, हमारे वर्तमान और पूर्व शरीर में और प्रत्येक सर्व साधारण कारण में व्यापक है, सब मनुष्य योगाभ्यास से इन्द्रियों को वश में करके उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २८ ॥

अथर्ववेद कांड १० । २ । ६ में आया है—“ कर्ता [परमेश्वर] ने [मनुष्य के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख । जिन के विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं ” ॥

यह मन्त्र अभेद से यजुर्वेद में है—१३ । ५, और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । ११ ॥

शुतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षुस्ते अभि चक्षते रयिम् । ये
पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहते दक्षिणां सुप्तमातरम् २८
शुत-धारम् । वायुम् । अर्कम् । स्वः-विदम् । नृ-चक्षुः । ते ।
अभि । चक्षते । रयिम् ॥ ये । पृणन्ति । प्र । च । यच्छन्ति ।
सर्वदा । ते । दुहते । दक्षिणाम् । सुप्त-मातरम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (नृचक्षुः) मनुष्यों के देखने वाले पुरुष (रयिम् अभि) धन को सब ओर से पाकर (शतधारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण करने वाले (वायुम्) सर्वव्यापक, (अर्कम्) पूजनीय, (स्वर्विदम्) सुख

(अनु) प्रति (संचरन्तम्) विचरन्तम् (द्रप्सम्) हर्षकारकं परमात्मानम् (जुहोमि) आदत्ते । गृह्णामि (अनु) अनुसृत्य (होत्राः) हुयामाश्रुभसि-भ्यस्तन् । ३० ४ । १६८ । हु दातादानादनेषु-त्रन् , टाप् । होत्रा वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । शीर्षण्यच्छिद्ररूपा विषयग्रहीत्रीः शक्तीः ॥

२८—(शतधारम्) बहुप्रकारेण धारकम् (वायुम्) सर्वव्यापकम् (अर्कम्) अर्चनीयम् (स्वर्विदम्) सुखस्य लम्भकं परमात्मानम् (नृचक्षुः) मनुष्याणां द्रष्टारः (ते) प्रसिद्धाः (अभि) अभिगत्य । सर्वतः प्राप्य (चक्षते) पश्यन्ति

पहुंचाने वाले परमेश्वर को (चक्षते) देखते हैं । (ये) जो पुरुष (सर्वदा) सर्वदा (पृणन्ति) [धन को] भरते हैं (च) और (प्र यच्छन्ति) [सुपात्रों को] देते हैं, (ते) वे लोग (सप्तमातरम्) सात [मन्त्र २८, मस्तक के सात गोलकों] द्वारा बनी धृयी (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठा को (दुहते) दुहते हैं [पाते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी परोपकारी पुरुष परमात्मा के दिये धन को प्रत्येक स्थान में प्राप्त करके सुपात्रों को देकर यशस्वी होवें, क्योंकि जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर धन बढ़ाते और सुपात्रों को देते हैं, वे ही संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ २६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०७ । ४ ॥

मन्त्राः ३०—४० ॥

धेनुर्देवता ३० । ३६ त्रिष्टुप् ; ३१, ३८, अनुष्टुप् ; ३२ निचृदनुष्टुप् ; ३३ भुरिगार्षी बृहती ; ३४ त्रिष्टुप् ; ३५ निचृदार्षी त्रिष्टुप् ; ३७, निचृत् त्रिष्टुप् ; ३६ आर्षी पङ्क्तिः ; ४० भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

कोशं दुहन्ति कुलशं चतुर्विलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदिति जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ३०(२२)
कोशम् । दुहन्ति । कुलशम् । चतुः-विलम् । इडाम् । धेनुम् ।
मधु-मतीम् । स्वस्तये ॥ ऊर्जम् । मदन्तीम् । अदितिम् ।
जनेषु । अग्ने । मा । हिंसीः । परमे । वि-व्योमन् ॥३०॥(२२)

भाषार्थ—(कोशम्) भण्डार तुल्य, (चतुर्विलम्) चार छेद [स्तन] वाले (कुलशम्) कलश [गौ के लेवा] को (इडाम्) स्तुति योग्य, (मधुमतीम्)

(रयिम्) धनम् (ये) पुरुषार्थिनः (पृणन्ति) पृ पालनपूरणयोः । पूरयन्ति (च) (प्रयच्छन्ति) ददति सुपात्रेभ्यः (सर्वदा) (ते) पुरुषाः (दुहते) रुडागमः । दुहते । प्राप्नुवन्ति (दक्षिणाम्) वृद्धिक्रियाम् । प्रतिष्ठाम् । सत्क्रियाम् (सप्तमातरम्) म० २८ । सप्तसंख्याकानि शीर्षण्यच्छिद्राणि मातृणि निर्मातृणि मातृभूतानि वा यस्यास्तां तथाभूताम् ॥

३०—(कोशम्) रत्नसुवर्णादिसंचयस्थानं यथा (दुहन्ति) दुहिद्विकर्मकः । प्रपूरयन्ति (कुलशम्) कुम्भसदृशं पयोधरम् (चतुर्विलम्) चतुश्चिच्छ-

मधुर रस [मीठे दूध] वाली (धेनुम्) दुधैल गौ से (स्वस्तये) आनन्द के लिये (दुहन्ति) [मनुष्य] दुहते हैं । (अग्ने) हे ज्ञानी राजन् ! (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा में [वर्तमान तू] (जनेषु) मनुष्यों के बीच (ऊर्जम्) बलदायक रस (मदन्तीम्) बढ़ाती हुयी (अदितिम्) अदीन [और अखण्डनीय] गौ को (मा हिंसीः) मतमार ॥ ३० ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गौ आदि पशु जो दूध घी आदि उत्तम पदार्थ देने में दीन नहीं होते और उनके बच्चे बैल आदि जो खेतों आदि में उपकार करते हैं जिस से प्रजा की रक्षा होती है, उन सब को कोई मनुष्य कभी न सतावे और न मारे ॥ ३० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१३ । ४६, और पूर्वार्ध के लिये मन्त्र ३६ आगे देखो ॥

एतत् ते देवः सुविता वासो ददाति भर्तवे ।

तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तुाप्यं चर ॥ ३१ ॥

एतत् । ते । देवः । सुविता । वासः । ददाति । भर्तवे ॥

तत् । त्वम् । यमस्य । राज्ये । वसानः । तुाप्यम् । चर ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (देवः) व्यवहार कुशल

द्रम् । चतुःस्तनम् (इडाम्) अ० ३ । १० । ६ । ईड स्तुतौ-घम् । ईकारस्य ह्रस्वः, टाप् । इला गोनाम—निघ० २ । ११ । ईड्याम् । स्तुत्याम् (धेनुम्) अ० ३ । १० । १ । घेट इच्छ । उ० ३ । ३४ । इति घेट् पाने-नु । यद्वा, धि धारणे, तर्पणे च—नु । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११ । ४२ । दोग्ध्रीं गाम् (मधुम-तीम्) मधुररसदुग्धयुक्ताम् (स्वस्तये) कल्याणाय (ऊर्जम्) बलकरं रसम् (मदन्तीम्) मदयन्तीम् । तोषयन्तीम् । वर्धयन्तीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ कृत्यत्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११६ । दीङ् क्षये, दो अवखण्डने-क्तिन् । अदि-तिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अदितिर्गोनाम—निघ० २ । ११ । अदीनामख-ण्डनीयां गाम् (जनेषु) मनुष्येषु (अग्ने) हे विद्वन् राजन् (मा हिंसीः) मा बधीः मा पीडय (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि । सर्वव्यापके परमात्मनि ॥

(सविता) प्रेरक [काम चलाने वाला, कपड़ा बनाने वाला पुरुष] (एतत्) यह (वासः) कपड़ा (भर्तवे) पहिरने को (ददाति) देता है । (त्वम्) तू (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में (तार्ष्यम्) तृप्तिकारक (तत्) उस [वस्त्र] को (वसानः) पहिरे हुये (चर) विचर ॥ ३१ ॥

भावार्थ—न्यायी राजा के राज्य में गाय बैल आदि के उपकार से [मन्त्र ३०] वस्त्रकार आदि लोग वस्त्र आदि बनाकर मनुष्यों का उपकार करते हैं ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वृत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

धानाः । धेनुः । अभवत् । वृत्सः । अस्याः । तिलः । अभवत् ॥

ताम् । वै । यमस्य । राज्ये । अक्षिताम् । उप । जीवति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [गौ] से (धानाः) धानियें [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थ] और (धेनुः) गौ और (वृत्सः) बछड़ा (अभवत्) होता है और (तिलः) तिल [तिल सरसों आदि] (अभवत्) होता है । (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में [मनुष्य] (वै) निश्चय करके (ताम्) उस (अक्षिताम्) बिना बतायी हुयी [गौ] के (उप जीवति) सहारे से जीवता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उत्तम राज्य के प्रबन्ध द्वारा गौ के उपकार से अन्न और तेल आदि भोजन आदि के लिये तथा गौ दूध, घी आदि के लिये और बैल खेती

(सविता) कर्मप्रेरकः । वस्त्रकारः । शिल्पी (वासः) वस्त्रम् (ददाति) प्रयच्छति (भर्तवे) भर्तुमाच्छादयितुम् (तत्) वस्त्रम् (त्वम्) हे मनुष्य (यमस्य) न्यायकारिणो राज्ञः (राज्ये) जनपदे (वसानः) आच्छादयन् (तार्ष्यम्) तृप प्रीयाने-यत् । तृप्तिकरम् (चर) विचर ॥

३२—(धानाः) सुसंस्कृतपौष्टिकपदार्थाः (धेनुः) दोग्ध्री गौ (अभवत्) भवति (वृत्सः) गोशिशुः । वृषभः (अस्याः) धेनोः सकाशात् (तिलः) तिलसर्षपादिपदार्थः (ताम्) गाम् (वै) निश्चयेन (यमस्य) न्यायशीलस्य राज्ञः (राज्ये) जनपदे (अक्षिताम्) अहिंसिताम् (उप) उपेत्य (जीवति)

समाधत्त ध्यायति ॥

आदि के लिये होते हैं, जिन पदार्थों के ऊपर मनुष्य का जीवन निर्भर है ॥ ३२ ॥

एतास्तै असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपा

विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥

एताः । ते । असौ । धेनवः । काम-दुघाः । भवन्तु ॥ एनीः ।

श्येनीः । स-रूपाः । वि-रूपाः । तिल-वत्साः । उप । तिष्ठन्तु ।

त्वा । अत्र ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(असौ) हे अमुक पुरुष ! (ते) तेरी (एताः) यह (धेनवः) दुधेल गायें (कामदुघाः) कामधेनु [कामना पूरी करने वाली] (भवन्तु) होवें । (एनीः) चितकबरी, (श्येनीः) धौली, (सरूपाः) एक से रूप वाली, (विरूपाः) अलग अलग रूप वाली, (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली [गौयें] (अत्र) यहां (त्वा) तेरी (उप तिष्ठन्तु) सेवा करें ॥ ३३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य गौओं की घास अन्न आदि से यथावत् सेवा करें जिससे वे अभीष्ट घी दूध बड़े बछड़े आदि देकर उपकार करती रहें और प्रीति बढ़ाने के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि गौयें और बछड़े अनेक रंगों और नामों के होवें ॥ ३३ ॥

एनीधुना हरिणीः श्येनीरस्य कुष्णा धुना रोहिणीर्धेन-
वस्ते ॥ तिलवत्सा ऊर्जस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनप-
स्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

एनीः । धुनाः । हरिणीः । श्येनीः । अस्य । कुष्णाः ।

धुनाः । रोहिणीः । धेनवः । ते ॥ तिल-वत्साः । ऊर्जस् ।

अस्मै । दुहानाः । विश्वाहा । सन्तु । अनुप-स्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

३३—(एताः) (ते) तव (असौ) हे अमुक पुरुष (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (कामदुघाः) दुग्धघृतादिदानेन कामानां प्रपूरयिष्यः (भवन्तु) (एनीः) कवूरवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः । धवलाः (सरूपाः) समानरूपाः (विरूपाः) विविधरूपाः (तिलवत्साः) तिलाः तिलकाः प्रधानाः शिशवो यासां ताः

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अस्य) इस (ते) तेरी (पनीः) चित-
कवरी, (हरिणीः) पीली, (श्येनीः) धौली, (कृष्णाः) काली, (रोहिणीः)
लाल (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली, (अनपस्फुरन्तीः) कभी न चलाय-
मान होने वाली (धेनवः) दुधेल गौयें (धानाः) पुष्टिकारक (धानाः)
धानियों [सुसंस्कृत अन्नो] को और (ऊर्जम्) बलदायक रस [दूध घी
आदि] को (अस्मै) उस तेरे लिये (विश्वाहा) सब दिनों (दुहानाः) देती
हुई (सन्तु) होवें ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रीतिसूचक रंग और नाम वाली
गौओं को सावधानी से पालें जिस से गौओं के दूध घी आदि द्वारा उत्तम उत्तम
भोजन और खेती आदि के लिये बड़े बड़े बछड़े करके सदा पुष्ट रहें ॥ ३४ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् । स
बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ३५
वैश्वानरे । हविः । इदम् । जुहोमि । साहस्रम् । शत-धारम् ।
उत्सम् ॥ सः । बिभर्ति । पितरम् । पितामहान् । प्र-पिता-
महान् । बिभर्ति । पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरे) सब नरों के हितकारी पुरुष के निमित्त (इदम्)
इस (हविः) ग्रहण करने योग्य वस्तु, (साहस्रम्) सहस्रों उपकार वाले,
(शतधारम्) सैकड़ों दूध के धाराओं वाले (उत्सम्) स्रोते [अर्थात् गौ रूप

३४—(पनीः) कबूँरवर्णाः (धानाः) पोषयित्रीः (हरिणीः) हरिण्यः ।
हरितवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः (अस्य) पुरुषस्य (कृष्णाः) कृष्णवर्णाः
(धानाः) सुसंस्कृतान्नानि (रोहिणीः) रोहितवर्णाः रक्ताः (धेनवः) दोग्ध्रयो
गावः (ते) तव (तिलवत्साः) म० ३३ । प्रधानशिशूपेताः (ऊर्जम्) बल-
करं रसं दुग्धघृतादिकम् (अस्मै) तथाभूताय तुभ्यम् (दुहानाः)
प्रयच्छन्त्यः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सन्तु) (अनपस्फुरन्तीः) स्फुर
संचलने—शतृ । न कदापि संचलन्त्यः ॥

३५—(वैश्वानरे) निमित्ते सप्तमी । सर्वनरहितपुरुषस्य निमित्ते (हविः)
ग्राह्यं वस्तु गौरूपम् (जुहोमि) ददामि (साहस्रम्) बहुपकारक्षमम् (शत-
धारम्) बहुदुग्धधारायुक्तम् (उत्सम्) उन्दी क्लेदने—सप्रत्ययः । स्रवज्जलस्य

पदार्थ] को (जुहोमि) मैं देता हूं । (सः) वह (पिन्वमानः) सेवा किया हुआ [गौ रूप पदार्थ] (पितरम्) पिता [पिता आदि बड़ों] को (पितामहान्) दादे आदि मान्य जनों को (विभर्ति) पुष्ट करता है, और (प्रपितामहान्) परदादे आदि महामान्य पुरुषों को (विभर्ति) पुष्ट करता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! गौ को प्राप्त करके उसकी पूरी सेवा करो, उसके पालने से खेती आदि के लिये उत्तम बैल तथा दूध घी आदि उत्तम पदार्थ मिलने से तुम्हारे कुटुम्बी और सब बड़े बूढ़े बलवान् और पुष्ट रहेंगे ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्सृक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।

ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

सहस्र-धारम् । शत-धारम् । उत्सृक्षितम् । वि-

व्यच्यमानम् । सलिलस्य । पृष्ठे ॥ ऊर्जम् । दुहानम् । अनप-

स्फुरन्तम् । उप । आसते । पितरः । स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से पोषण करने वाले, (शतधारम्) दूध की सैकड़ों धाराओं वाले, (अक्षितम्) न घटने वाले, (सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (व्यच्यमानम्) फैले हुये [अर्थात् जल समान बहुत होने वाले], (ऊर्जम्) बलकारक रस [दूध घी आदि] (दुहानम्) देने वाले (अनपस्फुरन्तम्) कभी न चलायमान होने वाले (उत्सृक्षितम्) सोते [अर्थात् गौ रूप पदार्थ] को (पितरः) पितर [पिता आदि

पातसदृशं गौरूपपदार्थम् (सः) गौरूपपदार्थः (विभर्ति) पुष्णाति (पितरम्) बहुवचनस्यैकवचनम् । पितॄन् । पित्रादिमाननीयान् (पितामहान्) पितामहादीन् सत्करणीयान् (प्रपितामहान्) प्रपितादीन् महामान्यान् (विभर्ति) (पिन्वमानः) पिवि सेचने, सेवने च—चानश् । सेव्यमानः ॥

३६—(सहस्रधारम्) सहस्रप्रकारेण धारकं पोषकम् (शतधारम्) असंख्यातदुग्धधारोपेतम् (उत्सृक्षितम्) स्रोतः सदृशं गौरूपपदार्थम् (अक्षितम्) अक्षीणम् (व्यच्यमानम्) अचु गतौ याचने च—शानच् । वि विविधं प्रसरन्तम् (सलिलस्य) समुद्रस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धादिकम् (दुहानम्) प्रयच्छन्तम् (अनपस्फुरन्तम्) न कदापि संचलन्तम् (उपासते)

मान्य] लोग (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के साथ (उप आसते) सेवते हैं ॥३६॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाना चाहें, वे गौ की रक्षा करके दूध घी आदि का सेवन करें ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वाह्न कुल भेद से यजुर्वेद में है—१३। ४६ और उत्तराह्न के लिये—मन्त्र ३० ऊपर देखो ॥

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत । मर्त्योऽ-
यममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥

इदम् । कसाम्बु । चयनेन । चितम् । तत् । सु-जाताः ।
अव । पश्यतु । आ । इत् ॥ मर्त्यैः । अयम् । अमृत-त्वम् ।
एति । तस्मै । गृहान् । कृणुत । यावत्-सबन्धु ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (कसाम्बु) शासन का कीर्तन (चयनेन) इकट्ठा करने से (चितम्) इकट्ठा किया गया है, (सजाताः) हे सजातियो ! (तत्) उस को (अव पश्यत) ध्यान से देखो और (आ) सब ओर से (इत) प्राप्त करो । (अयम्) यह (मर्त्यैः) मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरपण (एति) पाता है । (यावत्सबन्धु) जितने तुम समान गोत्र वाले [अर्थात् सपिण्डी] हो सब मिल कर (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (गृहान्) घरों को (कृणुत) बनाओ ॥ ३७ ॥

सेवन्ते (पितरः) पित्र्यादिमान्याः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

३७—(इदम्) उपस्थितम् (कसाम्बु) कस गतिशासनयोः—
अच् + अबि शब्दे गतौ च-उप्रत्ययः । कसस्य शासनस्य कीर्तनम् (चयनेन) संग्रहेण (चितम्) संचितम् । समूहीकृतम् (तत्) शासनकीर्तनम् (सजाताः) हे समानजन्मानः । सगोत्राः (अव पश्यत) अवधानेन ईक्षध्वम् (आ) समन्तात् (इत) प्राप्नुत (मर्त्यैः) मनुष्यः (अयम्) (अमृतत्वम्) अमरत्वम् । अमर-
णम् (एति) प्राप्नोति (तस्मै) मनुष्याय (गृहान्) स्थानानि (कृणुत) कुरुत । रचयत (यावत्सबन्धु) यथा भवति तथा यावन्तः सबन्धवः समानगोत्राः सपिण्डिनो भवथ ते सर्वे यूयं संगत्य ॥

भावार्थ—संसार में गौ आदि उपकारी जीव और बड़े बड़े घर आदि स्थान युक्ति के साथ क्रम क्रम से ठीक होते हैं, मनुष्य यह विचार कर उन्नति करें। मनुष्य इसी प्रकार श्रेष्ठ कामों से वश पाता है और सब कुटुम्बी आदि उस का सहाय करते हैं ॥ ३७ ॥

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः ।

इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

इह । एव । एधि । धन-सनिः । इह-चित्तः । इह-क्रतुः ॥

इह । एधि । वीर्यवत्-तरः । वयुः-धाः । अपरा-हतः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (धनसनिः) धन कमाता हुआ, (इहचित्तः) यहां पर चित्त देता हुआ, (इहक्रतुः) यहां पर कर्म करता हुआ तू (इह) यहां पर (एव) ही (एधि) रह । और (वीर्यवत्तरः) अधिक वीर्यवान् होता हुआ, (वयोधाः) बल देता हुआ और (अपराहतः) न मार डाला गया तू (इह) यहां पर (एधि) रह ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या द्वारा धन आदि प्राप्त करके यहां अर्थात् अपने घर, नगर, देश तथा संसार में उपकार करता हुआ महाबली उदार और शत्रु-रहित होकर निर्भय होवे ॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमभितुर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः । स्वधां पितृभ्यो
श्रुतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

पुत्रम् । पौत्रम् । अभि-तुर्पयन्तीः । आपः । मधु-मतीः ।
इमाः ॥ स्वधाम् । पितृ-भ्यः । श्रुतम् । दुहानाः । आपः ।

३९—(इह) अत्र (एव) निश्चयेन (एधि) भव (धनसनिः) कुन्दसि धनसनरक्षिमधाम् । पा० ३ । २ । २७ । धन + सन षण् सम्भक्तौ—इन् । धनस्व संभाजकः । लम्भकः (इहचित्तः) अस्मिन् देशे कर्मणि वा चित्तं मनो यस्य सः (इहक्रतुः) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । अस्मिन् संसारे कर्मयुक्तः (इह) (एधि) भव (वीर्यवत्तरः) अधिकतरो बलवान् (वयोधाः) वयः + दु धाञ् धारणपोषणदानेषु—क्लिप् । पराक्रमस्य दाता (अपराहतः) अनपमरितः ॥

देवीः । उभयान् । तर्पयन्तु ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (मधुमतीः) मधुर रस [मीठे दूध धाँ] वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (पुत्रम्) पुत्र और (पौत्रम्) पौत्र को (अभितर्पयन्तीः) सब ओर से तृप्त करती हुयी होवें और (पितृभ्यः) पितरों को (स्वधाम्) स्वधारण शक्ति और (अमृतम्) अमरण [जीवन] (दुहानाः) देती हुयी, (देवीः) उत्तम गुण वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (उभयान्) दोनों पक्षों [स्त्री पुरुषों] को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को गौ आदि उपकारी पशुओं की सदा रक्षा करनी चाहिये, जिस से बालक युवा और वृद्ध स्त्री पुरुषों का पालन होता रहे ॥ २६ ॥
आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄरुपे स यज्ञं पितरौ मे जुषन्ताम् ।
आसीनासूर्जमुप ये सचन्ते तेनोरुयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ४०(२३)
आपः । अग्निम् । प्र । हिणुत । पितॄन् । उप । इमम् ।
यज्ञम् । पितरः । मे । जुषन्ताम् ॥ आसीनाम् । ऊर्जम् ।
उप । ये । सचन्ते । ते । नः । रुयिम् । सर्व-वीरम् । नि ।
यच्छान् ॥ ४० ॥ (२३)

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति योग्य [गौओ !] (अग्निम्) अग्नि [प्रताप वा बल] को (पितॄन् उप) पितरों में (प्र हिणुत) बढ़ाये जाओ, (मे)

३६—(पुत्रम्) आत्मजम् (पौत्रम्) पुत्रस्य पुत्रम् (अभितर्पयन्तीः) सर्वतः संतोषयन्त्यः (आपः) आल्प व्याप्तौ—किप् । आपः पदनाम—निघ० ५ । ३ । आपः=आपनाः, आपनानि च—निरु० १२ । ३७ । प्राप्तव्या गावः (मधुमतीः) मधुरसेन घृतदुग्धादिना युक्ताः (इमाः) दृश्यमानाः (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (अमृतम्) अमरणम् । जीवनम् (दुहानाः) प्रयच्छन्त्यः (आपः) प्राप्तव्या गावः (देवीः) देव्यः । शुभगुणवत्यः (उभयान्) उभयपक्षान् स्त्रीपुरुषरूपान् (तर्पयन्तु) तोषयन्तु । वर्धयन्तु ॥

४०—(आपः) म० ३६ । प्राप्तव्या गावः (अग्निम्) प्रतापं बलं वा (प्र) प्रकृष्येण (हिणुत) हि गतिवद्भ्योः । वर्धयत (पितॄन्) पालकान् विदुषः ।

मेरे (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्कार को (पितरः) पितर लोग (जुषन्ताम्) सेवन करें । (ये) जो [पितर लोग] (आसीनाम्) उपस्थित (ऊर्जम्) बल-कारक रस [दूध घी आदि] को (उप) आदर से (सचन्ते) सेवें, (ते) वे [विद्वान् पितर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) पूरे वीर पुरुष वाला (रयिम्) धन (नि) नियम से (यच्छान्) देवें ॥ ४० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम दूध घी आदि पदार्थों से विद्वान् बड़े बूढ़ों को तृप्त करते रहें, जिस से उनके विद्यादान और आशीर्वाद से गृहस्थों के कार्यकुशल वीर सन्तानें और बहुत धन होवें ॥ ४० ॥

मन्त्रः ४१—४४ ॥

पितरो देवताः ॥ ४१, ४२ अनुष्टुप्; ४३ आर्षी बृहती; ४४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

पितृसेवोपदेशः—पितरों की सेवा का उपदेश ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।

स वेदु निहितान् निधीन् पितृन् परावतो गुतान् ॥ ४१ ॥

सम् । इन्धते । अमर्त्यम् । हव्य-वाहम् । घृत-प्रियम् ॥

सः । वेदु । नि-हितान् । नि-धीन् । पितृन् । परा-वतः ।

गुतान् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—वे [पितर लोग] (अमर्त्यम्) अमर [न मरते हुये पुरुषार्थी], (हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य पदार्थों के पहुँचाने वाले, (घृतप्रियम्)

पुरुषान् (उप) प्रति (इमम्) अनुष्ठीयमानम् (यज्ञम्) सत्कारम् (पितरः) (मे) मम (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (आसीनाम्) उपविष्टाम् । उपस्थिताम् (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धघृतादिकम् (ये) पितरः (सचन्ते) सेवन्ते (ते) पितरः (नः) (अस्मभ्यम्) (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) पूर्णवीरैरुपेतम् (नि) नियमेन (यच्छान्) अ० १२ । ३ । ३८ । त्नेटि रूपम् । यच्छन्तु । ददतु ॥

४१—(सम्) सम्यक् । यथाविधि । ज्ञानेन (इन्धते) प्रकाशयन्ते ते पितरः (अमर्त्यम्) अम्रियमाणम् । पुरुषार्थिनम् (हव्यवाहम्) ग्राह्यपदार्थानां

घो आदि को प्रिय जानने वाले [जिस] पुरुष को (सम्) यथाविधि [ज्ञान से] (इन्धते) प्रकाशमान करते हैं । (सः) वह [पुरुष] (परावतः) पराक्रम से चलने वाले (पितृन्) पितरों को (गतान्) प्राप्त हुये और (निहितान्) संग्रह किये हुये (निधीन्) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों को (वेद) जानता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि पितरों की सेवा घृत दुग्ध आदि उत्तम पदार्थों से करते हैं, वे पितृभक्त उन पितरों की कृपा से विद्यारत्न प्राप्त करके बड़े धनी होते हैं ॥ ४१ ॥

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्रुतः ॥ ४२ ॥

यम् । ते । मन्थम् । यम् । ओदनम् । यत् । मांसम् । नि-
पृणामि । ते ॥ ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः ।
घृत-श्रुतः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (यम्) जिस (मन्थम्) मथने से प्राप्त हुये पदार्थ [नवनीत आदि] और (यम्) जिस (ओदनम्) भात आदि [सुसंस्कृत भोजन] को (ते) तेरे लिये और (यत्) जिस (मांसम्) मनन साधक वस्तु [बुद्धिवर्धक मीठे फल बादाम अलोट आदि के गूदे, मींग] को (ते) तेरे लिये (निपृणामि) मैं भेंट करता हूँ । (ते) वे [भोजन पदार्थ]

प्रापकम् (घृतप्रियम्) घृतादिकं कामयमानं पुरुषम् (सः) पूर्वोक्तः पुरुषः (वेद) वेत्ति (निहितान्) स्थापितान् । संगृहीतान् (निधीन्) रत्नसुवर्णादि-
कोशान् (पितृन्) “गतान्” इत्यनेन कर्मकारके सम्बन्धः । पालकान् पुरुषान् (परावतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । परा + वतिप्रत्ययो धात्वर्थे । परा पराक्रमेण गन्तृन् (गतान्) अयं सकर्मकः । प्राप्तान् ॥

४२—(यम्) (ते) तुभ्यम् (मन्थम्) विलोडनेन प्राप्तं नवनीतादि-
पदार्थम् (यम्) (ओदनम्) भक्तम् । सुसंस्कृतान्नम् (यत्) (मांसम्)
म० २० । मननसाधकं बुद्धिवर्धकं पदार्थम् (निपृणामि) पृ पालनपूरणयोः ।

(ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर से] गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सारदरस] सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ४२ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् गुणी माता पिता आदि बड़ों की सेवा घृत दुग्ध आदि से किया करें, जिस से वे पितर लोग बलवान् रह कर उत्तम उत्तम कर्म करने में समर्थ होवें ॥ ४२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८। ३। ६८। तथा १८। ४। २५ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः । तास्ते सन्तुद्भवीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥

याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वतीः ॥ ताः । ते । सन्तु । उत्-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा । अनु । मन्यताम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिल-मिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) मैं [गृहस्थ] अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भवीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक वैद्य] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने ॥ ४३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग वैद्यक प्रक्रिया के अनुसार पुष्टिकारक पदार्थों से सेवा करके पितरों को नीरोग रखें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है—मन्त्र २६ तथा कुछ भेद से—अ० १८। ३। ६४ ॥

नियमेन पूरयामि । समर्पयामि (ते) तुभ्यम् । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८। ३। ६८ तथा १८। ४। २५ ॥

४३—(राजा) शासको वैद्यः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २६ तथा अ० १८। ३। ६४ ॥

इदं पूर्वमपरं नियानं येन ते पूर्वं पितरः परेताः । पुरोगवा
ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतांस्तु लोकम् ॥ ४४ ॥

इदम् । पूर्वम् । अपरम् । नि-यानम् । येन । ते । पूर्वं । पितरः ।
परी-इताः ॥ पुरः-गवाः । ये । अभि-शाचः । अस्य । ते ।
त्वा । वहन्ति । सु-कृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) यह (पूर्वम्) पहिला और
(अपरम्) पिछला (नियानम्) निश्चित मार्ग है, (येन) जिस से (ते) तेरे
(पूर्वं) पहिले [प्रधान] (पितरः) पितर लोग (परेताः) बल के साथ
गये हैं । (ये) जो [पितर] (अस्य) इस [मार्ग] के (पुरोगवाः) आगे
चलने वाले और (अभिशाचः) सब प्रकार उपदेश करने वाले हैं, (ते) वे
[पितर] (त्वा) तुझ को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (उ) ही (लोकम्)
समाज में (वहन्ति) पहुंचाते हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—पितरों अर्थात् विद्वान् जनों की सेवा करना प्राचीन और
अर्वाचीन अर्थात् सार्वभौम और सर्वकालीन धर्म है, उन की सेवा से मनुष्य
योग्य हो कर विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ४४ ॥

मन्त्राः ४५-४७ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १० । १७ । ७—६ यथा] ॥ ४५, ४६ निचृत्
त्रिष्टप्, ४७ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

४४—(इदम्) पितृसेवारूपमाचरणम् (पूर्वम्) पुरातनम् (अपरम्)
अर्वाचीनम् (नियानम्) निश्चितमार्गः (येन) मार्गेण (ते) तव (पूर्वं)
प्रथमपदस्थाः प्रधानाः (पितरः) पालका विद्वांसः (परेताः) परा प्राधान्येन
गताः (पुरोगवाः) गोरतद्धितलुकि । पा० ५।४ । ६२ । इति पुरः+गो-टच्,
तत्पुरुषे समासान्तः । अग्रगामिनः (ये) पितरः (अभिशाचः) वहश्च ।
पा० ३ । २ । ६४ । अभि+शच व्यक्तायां वाचि—एवप्रत्ययो बाहुलकात्
सर्वत उपदेशकाः (अस्य) नियानस्य । निश्चितमार्गस्य (ते) पितरः (त्वा)
त्वां पितृसेवकम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ)
निश्चयेन (लोकम्) समाजम् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने । सरस्वतीं
सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥
सरस्वतीम् । देव-यन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे ।
तायमाने ॥ सरस्वतीम् । सु-कृतः । हवन्ते । सरस्वती ।
दाशुषे । वार्यम् । दात् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (सर-
स्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्य गुणों को चाहने वाले पुरुष
(तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरं) हिंसारहित व्यवहार में (हवन्ते)
बुलाते हैं । (सरस्वतीम्) सरस्वती का (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते)
बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ
पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का
अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४५ ॥

मन्त्र ४५-४७ ऊपर आ चुके हैं—अ० १८। १। ४१-४३ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ४६
सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-
नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् ।
अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को
(दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग व्यवहार] को (अभिन-
क्षमाणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

(हवन्ते) बुलाते हैं । [हे विद्वानों !] (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) आकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थपित कर ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिल कर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वति या सुरयं युयाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सुहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

सरस्वति । या । सु-रयम् । युयाथ । उक्थैः । स्वधाभिः ।
देवि । पितृ-भिः । मदन्ती ॥ सुहस्र-अर्घम् । इडः । अत्र ।
भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्त होती हुयी (युयाथ) प्राप्त हुयी है । सो तू (अत्र) यहां (इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन का (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेद विद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं । सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४७ ॥

मन्त्राः ४८—५२ ॥

पितरो देवताः ॥ ४८, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप् ४६ ; अनुष्टुब्गर्भा

त्रिष्टुप्, ५० निचृज्जगती ॥

पितृसंस्तानकर्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरा-
त्यायुः । परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं
भवन्तु ॥ ४८ ॥

पृथिवीम् । त्वा । पृथिव्याम् । आ । वेशयामि । देवः । नः ।
धाता । प्र । तिराति । आयुः ॥ परा-परैता । वसु-वित् । वः ।
अस्तु । अध । मृताः । पितृषु । सम् । भवन्तु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा ! स्त्री वा पुरुष] (पृथिवीम् त्वा) तुम्हें प्रख्यात
को (पृथिव्याम्) प्रख्यात [विद्या] के भीतर (आ वेशयामि) मैं [माता
पिता आचार्य आदि] प्रवेश कराता हूँ, (देवः) प्रकाशस्वरूप (धाता) धाता
[पोषक परमात्मा] (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्र तिराति) बढ़ावे ।
(परापरैता) अत्यन्त पराक्रम से चलने वाला पुरुष (वः) तुम्हारे लिये
(वसुवित्) श्रेष्ठ पदार्थों का पाने वाला (अस्तु) होवे, (अध) तब (मृताः)
मरे हुये [निरुत्साही पुरुष] (पितृषु) पितरों [पालक विद्वानों] के बीच
(सं भवन्तु) समर्थ होवें ॥ ४८ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि सन्तानों को उत्तम विद्या देवें
जिस से वे परमेश्वर के भक्त होकर श्रेष्ठ जीवन बितावें और बड़े नेता और
श्रेष्ठ धनी होवें और उनके देखने से निरुत्साही भी उत्साही होकर पितरों में
स्थान पावें ॥ ४८ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद ऊपर आ चुका—अ० १२ । ३ । २२ ॥

४८—(पृथिवीम्) प्रख्याताम् (त्वा) त्वां प्रजां पुरुषं स्त्रियं वा (पृथि-
व्याम्) प्रख्यातायां विद्यायाम् (आवेशयामि) प्रवेशयामि (देवः) प्रकाशस्वरूपः
(नः) अस्माकम् (धाता) पोषकः परमात्मा (प्र तिराति) तरतेलैट् । वर्धयतु
(आयुः) जीवनम् (परापरैता) परा + परा + इण् गतौ - तृन् । अभ्यासे भूयां-
समर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अतिशयेन पराक्रमेण गन्ता (वसुवित्)
विद्वत् लाभे—क्लिप् । श्रेष्ठपदार्थानां लम्भयिता प्रापयिता (वः) युष्मभ्यम्
(अध) अथ (मृताः) त्यक्तप्राणाः । निरुत्साहिनः (पितृषु) पालकेषु विद्वत्सु
(सं भवन्तु) संभूतियुक्ताः समर्था भवन्तु ॥

आ प्र च्यवेथाम् तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः । अस्मा-
देतमुघ्न्यौ तद् वशीये दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४८ ॥
आ । प्र । च्यवेथाम् । अप । तत् । मृजेथाम् । यत् । वाम् ।
अभि-भाः । अत्र । ऊचुः ॥ अस्मात् । आ । इत् ।
अघ्न्यौ । तत् । वशीयः । दातुः । पितृषु । इह-भोजनौ ।
मम ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो !] तुम दोनों (आ) सब ओर (प्रच्यवेथाम्) आगे बढ़ो, और (तत्) उस [पाप] को (अप मृजेथाम्) शोध डालो, (यत्) जिस को (वाम्) तुम दोनों के (अभिभाः) सामने चमकती हुयी आपत्तियों ने (अत्र) यहां पर (ऊचुः) बताया है । (पितृषु) पितरों के बीच (दातुः मम) मुझ दानी के (इहभोजनौ) यहां पालन करने वाले (अघ्न्यौः) हिंसा न करने वाले तुम दोनों (अस्मात्) इस [पाप] से पृथक् होकर (तत्) उस [सुकर्म] को (आ) सब प्रकार (इत्) प्राप्त हो [जो सुकर्म] (वशीयः) अधिक वश करने वाला है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जिस पाप के कारण मनुष्य पर अनेक विपत्तियां आपड़ती हैं, स्त्री पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक विद्वान् पितरों की आज्ञा मान कर उस पाप को हटाकर सुकर्म में प्रवृत्त हों, क्योंकि सुकर्म ही से मनुष्य पाप को वश में करता है ॥ ४८ ॥

एयमंगुन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुष्ठा वयोधाः ।

४८—(आ) समन्तात् (प्र च्यवेथाम्) च्युङ् गतौ । प्रकर्षेण गच्छतम् (तत्) पापम् (अप मृजेथाम्) अप मार्जयतम् । शोधयतम् (यत्) पापम् (वाम्) युवाभ्याम् (अभिभाः) अ० १ । २० । १ । अभि भा दीप्तौ—किप् । अभिमुख्येन दीप्यमाना विपत्तयः (अत्र) अस्मिन् स्थाने (ऊचुः) उदितवत्यः । प्रकटितवत्यः (अस्मात्) पापात् पृक् भूत्वा (इत्) आगच्छतम् (अघ्न्यौः) नञ् + हन हिंसागत्योः—यक् । अहिंसकौ (तत्) सुकर्म (वशीयः) वशितृ—ईयसुन्, तृचो लोपः । वशितृतरं सुकर्म (दातुः) दानशीलस्य (पितृषु) (इह-भोजनौ) इह अस्मिन् स्थाने भोजनं पोषणं ययोस्तौ (मम) ॥

यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणायादिमान् ५० (२४)

आ । इयम् । अगन् । दक्षिणा । भद्रतः । नः । अनेन । दत्ता ।
सु-दुघा । वयः-धाः ॥ यौवने । जीवान् । उप-पृञ्चती ।
जरा । पितृ-भ्यः । उपसंपरानयात् । इमान् ॥ ५० ॥ (२४)

भाषार्थ—(अनेन) इस [सुकर्म] करके (दत्ता) ही हुयी, (सुदुघा) बड़ी दुधैल [गौ के समान] (वयोधाः) बल देने वाली (इयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] (भद्रतः) उत्तमता से (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुयी है । (यौवने) यौवन [बल की पूरी अवस्था] में (इमान्) इन (जीवान्) जीवते हुये पुरुषों को (उपपृञ्चती) मिलती हुयी (जरा) बड़ाई (पितृभ्यः) पितरों के पास को (उपसंपराणयात्) प्रधानता से ठीक ठीक ले चले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जैसे दुधैल गौ सेवा करने से दूध घी आदि पदार्थ देकर मनुष्यों को बलवान् करती है, वैसे ही मनुष्य सुकर्म के अनुष्ठान से बड़ गौरव पाकर बड़े लोगों में नाम पावे ॥ ५० ॥

इदं पितृभ्यः प्र भूरामि बृर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ५१
इदम् । पितृ-भ्यः । प्र । भूरामि । बृर्हिः । जीवम् । देवेभ्यः ।
उत्-तरम् । स्तृणामि ॥ तत् । आ । रोह । पुरुष । मेध्यः ।

५०—(इयम्) (आ अगन्) आगमत् (दक्षिणा) प्रतिष्ठा । गौरवम् (भद्रतः) कल्याणात् (नः) अस्मान् (अनेन) सुकर्मणा (दत्ता) (सुदुघा) बहुदोग्धी गौर्यथा (वयोधाः) बलदायिका (यौवने) पूर्णबलवत्त्वे (जीवान्) जीवनवतः पुरुषार्थिनः पुरुषान् (उपपृञ्चती) संयोजयन्ती (जरा) जरा स्तुति-जर्तरेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । प्रशंसा (पितृभ्यः) तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकेभ्यः (उपसंपराणयात्) उप + सम् + परा + नयात् । प्राधान्येन सम्यग् नयत् प्रापयत् (इमान्) प्रसिद्धान् ॥

भवन् । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (बर्हिः) उत्तम आसन (पितृभ्यः) पितरों के लिये (प्र भरामि) आगे धरता हूँ, और (देवेभ्यः) श्रेष्ठ गुणों के लिये (जीवम्) इस जीव [अपने आत्मा] को (उत्तरम्) अधिक ऊँचा (स्तृणामि) फैलाता हूँ । (पुरुष) हे पुरुष ! (मेध्यः) पवित्र (भवन्) होता हुआ तू (तत्) उस [आसन] पर (आ रोह) ऊँचा हो, [तव] (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुँचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष (जानन्तु) जाने ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् जनों की प्रतिष्ठा करके और उनके समान शुद्ध चारी होकर अपने जीवन को श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित बनाव ॥ ५१ ॥

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।

यथापुरु तन्वैश् सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२

आ । इदम् । बर्हिः । असदः । मेध्यः । अभूः । प्रति । त्वा ।

जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ यथा-पुरु । तन्वैश् । सम् ।

भरस्व । गात्राणि । ते । ब्रह्मणा । कल्पयामि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ असदः) तू बैठा है और (मेध्यः) पवित्र (अभूः) हुआ है, (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुँचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष

५१—(इदम्) (पितृभ्यः) पित्रादिमान्येभ्यः (प्र) प्रकर्षेण (भरामि) धरामि (बर्हिः) उत्तमासनम् (जीवम्) स्वात्मानम् (देवभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (स्तृणामि) विस्तारयामि (तत्) आसनम् (आरोह) आतिष्ठ (पुरुष) (मेध्यः) पवित्रः (भवन्) सन् (प्रति) प्रत्यक्षेण (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यं गतं प्राप्तम् ॥

५२—(इदम्) दृश्यमानम् (बर्हिः) उच्चासनम् (आ असदः) आरूढवानसि (मेध्यः) पवित्रः (अभूः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) विदन्तु (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यमितं प्राप्तम् (यथापुरु) परौ परौ

(जानन्तु) जानें । (यथापरु) गांठ गांठ में (तन्वम्) उपकार शक्ति को (सम् भरस्व) भर दे, (ते) तेरे (गात्राणि) गातों को (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (कल्पयामि) समर्थ करता हूँ ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या आदि उत्तम गुणों से शुद्ध पवित्र हो जावे, विद्वान् उस की प्रतिष्ठा करें और वह वेदज्ञान से समर्थ होकर अपना सब सामर्थ्य परोपकार में लगावे ॥ ५२ ॥

मन्त्रौ ५३, ५४ ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५३ आर्षी पङ्क्तिः ; ५४ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमात्मभक्तिफलोपदेशः—परमात्मा की भक्ति के फल का उपदेश ॥

पूर्णं राजापिधानं चरुणामूर्जं बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशरदाय ॥ ५३ ॥

पूर्णः । राजा । अपि-धानम् । चरुणाम् । ऊर्जः । बलम् ।
सहः । ओजः । नः । आ । अगन् ॥ आयुः । जीवेभ्यः । वि-
दधत् । दीर्घायु-त्वाय । शत-शरदाय ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(पूर्णः) पालन करने वाला (राजा) राजा [सर्वशासक परमात्मा] (चरुणाम्) पात्र [समान लोकों] का (अपिधानम्) ढक्कन है, [उस से] (ऊर्जः) पराक्रम, (बलम्) बल, (सहः) उत्साह और (ओजः) प्रभाव [यह चार] (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । वह (जीवेभ्यः)

ग्रन्थौ ग्रन्थौ (तन्वम्) तनूम् । उपकारशक्तिम् (सम्) सम्यक् (भरस्व) धारय (गात्राणि) अङ्गानि (ते) तव (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (कल्पयामि) समर्थयामि ॥

५३—(पूर्णः) आपृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पू पालनपूरणयोः—न । पालकः (राजा) सर्वशासकः परमात्मा (अपिधानम्) आच्छादनसाधनं यथा (चरुणाम्) पात्ररूपाणां लोकानाम् (ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—पचा-द्यच् । पराक्रमः (बलम्) सामर्थ्यम् (सहः) उत्साहः (ओजः) प्रभावः—इति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्वर्गः (नः) अस्मान् (आ अगन्) आगमत् । प्राप्तवान्

जीवते हुये पुरुषों को (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (आयुः) जीवन (विदधत्) विशेष कर के देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ—सर्वनियन्ता सर्वव्यापक जगदीश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार के बल देता है, और वही जीवते हुये पुरुषार्थी का जीवन दीर्घ करता है ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जुगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतुरं जीवसे धात् ५४
ऊर्जः । भागः । यः । इमम् । जजानं । अश्मा । अन्नानाम् ।
आधि-पत्यम् । जुगाम् ॥ तम् । अर्चतु । विश्व-मित्राः ।
हविः-भिः । सः । नः । यमः । प्र-तुरम् । जीवसे । धात् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जः) पराक्रम के (यः) जिस (भागः) भाग करने वाले [परमेश्वर] ने (इमम्) इस [संसार] को (जजान) उत्पन्न किया है और (अश्मा) व्यापक होकर (अन्नानाम्) अन्नों का (आधिपत्यम्) स्वामिपन (जुगाम) पाया है । (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र तुम (हविर्भिः) आत्मदानों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतुरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जगत् स्रष्टा परमेश्वर सब प्राणियों को उन के पुरुषार्थ के अनुसार सामर्थ्य देकर अन्न आदि देता है, इस लिये मनुष्य अधिक अधिक

(आयुः) जीवनम् (जीवेभ्यः) जीवितेभ्यः पुरुषार्थिभ्यः (विदधत्) दधाते-
लेटि, अडागमः । विशेषेण दध्यात् । प्रयच्छेत् (दीर्घायुत्वाय) अ० १ । ३५ । १ ।
चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) अ० १ । ३५ । १ । शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

५४—(ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—किप् । पराक्रमस्य (भागः) संभक्ता
(यः) परमेश्वरः (इमम्) दृश्यमानं संसारम् (जजान) जनयामास (अश्मा)
अश्व व्याप्तौ—मनिन् । व्यापकः परमात्मा (अन्नानाम्) भोजनानाम् (आधि-
पत्यम्) स्वामित्वम् (जुगाम) प्राप । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । ६३ ॥

पुरुषार्थ करके अपने जीवन को अधिक अधिक ऊंचा बनावे ॥ ५४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६३ ॥

मन्त्राः ५५—५७ ॥

जीवो देवता । ५५, ५७ अनुष्टुप् ; ५६ विराडनुष्टुप् ॥

मनुष्याय वृद्धिकरणोपदेशः—मनुष्य को वृद्धि करने का उपदेश ॥

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः ।

एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥

यथा । यमाय । हर्म्यम् । अवपन् । पञ्च । मानवाः ॥

एव । वपामि । हर्म्यम् । यथा । मे । भूरयः । असत ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (यमाय) न्यायकारी राजा के लिये (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्वों] से सम्बन्ध वाले (मानवाः) मनुष्यों ने (हर्म्यम्) स्वीकार करने योग्य राजमहल (अवपन्) फैलाकर बनाया है । (एव) वैसे ही मैं (हर्म्यम्) सुन्दर राजमहल (वपामि) फैलाकर बनाता हूँ, (यथा) जिस से (मे) मेरे लिये (भूरयः) बहुत से (असत) तुम होओ ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को बड़े पुरुषों के समान अच्छे अच्छे शिल्पियों द्वारा बड़ा सुखप्रद गढ़, विद्यालय, न्यायालय, आदि घर बनवाकर सब की यथायोग्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

इदं हिरण्यं बिभृहि यत् ते पिताविभः पुरा ।

५५—(यथा) सादृश्ये (यमाय) न्यायकारिणे शासकाय (हर्म्यम्) अर्ध्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । हज् स्वीकारे—यक्, मुडागमः । हर्म्यं गृहनाम-निघ० ३ । ४ । स्वीकरणीयं महिलायोग्यं गृहम् । धनिनां गृहम् (अवपन्) दुवप बीजसन्ताने । बीजवद् विस्तार्य निर्मितवन्तः (पञ्च मानवाः) अ० १२ । १ । १५ । पृथिव्यादिपञ्चभूतसंबन्धिनो मनुष्याः (एव) एवम् (वपामि) संपादयामि । निर्मिमे (हर्म्यम्) राजगृहम् (यथा) येन प्रकारेण (मे) मह्यम् (भूरयः) बहवः (असत) अस्तेर्लेटि अडागमः । शयं म्यात ॥

स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृडिह दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

इदम् । हिरण्यम् । बिभृहि । यत् । ते । पिता । अबिभः ।
पुरा ॥ स्वः-गम् । यतः । पितुः । हस्तम् । निः । मृडिह ।
दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (हिरण्यम्) सुवर्ण को
(बिभृहि) तू धारण कर, (यत्) जैसे (ते) तेरे (पिता) पिता ने (पुरा) पहिले
(अबिभः) धारण किया है । और (स्वर्गम्) सुख देने वाले पद को (यतः)
प्राप्त होते हुये (पितुः) पिता के (दक्षिणम्) दाहिने [वा उदार और कार्यकुशल]
(हस्तम्) हाथ को (नि) निश्चय करके (मृडिह) शोभायमान कर ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े पुरुषों के समान सुवर्ण आदि धन प्राप्त करें और
उपकारी कार्यों में चतुर होने के लिये युवराज बनकर बड़े लोगों का हाथ
बटावे अर्थात् सहाय करें ॥ ५६ ॥

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च युजियाः ।

तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दुती ॥ ५७ ॥

ये । च । जीवाः । ये । च । मृताः । ये । जाताः । ये । च ।
युजियाः ॥ तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । मधुधारा ।
वि-उन्दुती ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (जीवाः) जीवते हुये [उत्साही], (च) और

५६—(इदम्) उपस्थितम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (बिभृहि) धारय
(यत्) यथा (ते) तव (पिता) जनकः (अबिभः) भृतवान् । धारितवान्
(पुरा) पूर्वम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम् (यतः) इण गतौ—शतृ । गच्छतः ।
प्राप्नुवतः (पितुः) जनकस्य (हस्तम्) करम् (निः) निश्चयेन (मृडिह)
अ० ११ । १ । २६ । मृजू शौचालङ्कारयोः—लोट्, अदादिः । मार्जय । अलङ्कुरु
(दक्षिणम्) असव्यम् ॥ उदारम् । कार्यकुशलम् ॥

५७—(ये) पुरुषाः (च) (जीवाः) जीवन्तः । उत्साहिनः (ये) (च)

(ये) जो (मृताः) मरे हुये [निरुत्साही], (च) और (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हुये [बालक] (च) और (ये) जो (यज्ञियाः) पूजा योग्य [वृद्ध] पुरुष हैं । (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (मधुधारा) मधुर धाराओं वाली, (व्युन्दती) उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ५७ ॥

भावार्थ—उत्साही और निरुत्साही, बाल और वृद्ध सब पुरुषार्थ करके परस्पर आनन्द भोगें, जैसे लोग मीठे जल की नालियों से खेत, बाटिका आदि सींचकर अन्न फूल फल आदि प्राप्तकर सुखी होते हैं ॥ ५७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ७२ ॥

मन्त्राः ५८—६० ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५८ जगती ; ५९ अनुष्टुप् ; ६० आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूर्यो अह्ना प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कुलशां अचिक्रदुदिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्स-
नीषया ॥ ५८ ॥

वृषा । मतीनाम् । पवते । वि-चक्षणः । सूर्यः । अह्नाम् । प्र-
तरीता । उषसाम् । दिवः ॥ प्राणः । सिन्धूनाम् । कुलशान् ।
अचिक्रदुत् । इन्द्रस्य । हार्दिम् । आ-विशन् । मनीषया ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(वृषा) परम पेश्वर्यवान्, (विचक्षणः) विशेष दृष्टि वाला परमेश्वर (मतीनाम्) बुद्धियों का (पवते) पवित्रकारी है, [जैसे] (सूर्यः) सूर्य (दिवः) [अपने] प्रकाश से (अह्नाम्) दिनों का और (उषसाम्) प्रभात

(मृताः) त्यक्तप्राणाः । निरुत्साहिनः (ये) (जाताः) उत्पन्ना बालकाः (यज्ञियाः) पूजार्हाः । वृद्धाः । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । ७२ ॥

५८—(वृषा) वृषु सेचने परमेश्वर्ये च-कनिन् । परमेश्वर्यवान् । इन्द्रः । परमेश्वरः (मतीनाम्) बुद्धीनाम् (पवते) शोधको भवति (विच-क्षणः) विशेषेण द्रष्टा (सूर्यः) प्रेरकः सूर्यः (अह्नाम्) दिनानाम् (प्रतरीता)

बेलाओं का (प्रतरीता) फैलाने वाला है । (सिन्धूनाम्) नदियों के (प्राणः) प्राण [चेष्टा देने वाले उस परमेश्वर] ने (मनीषया) बुद्धिमत्ता से (इन्द्रस्य) सूर्य के (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति में (आविशन्) प्रवेश करके (कलशान्) कलशों [घड़ों समान मेघों] को (अचिक्रदत्) गुंजाया है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही परमात्मा अपने ज्ञान से आज्ञाकारी भक्तों की बुद्धियों को निर्मल करता है, वही परमेश्वर सूर्य के भीतर आकर्षण गुण देकर मेघों में गर्जन उत्पन्न करता और जल बरसाता है ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ८६। १६ और सामवेद में पू० ६। ७। ६ तथा उ० २। १। १७ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंक्रु आततः ।

सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावकु रोचसे ॥ ५८ ॥

त्वेषः । ते । धूमः । ऊर्णोतु । दिवि । सन् । शुक्रः । आ-ततः ॥

सूरः । न । हि । द्युता । त्वम् । कृपा । पावकु । रोचसे ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ते) तेरा (सन्) श्रेष्ठ, (शुक्रः) निर्मल (आततः) सब ओर फैला हुआ (त्वेषः) प्रकाश [हम को] (दिवि) आकाश में (धूमः) भाप [जैसे, वैसे] (ऊर्णोतु) ढक लेवे । (पावकु) हे शोधक ! [परमेश्वर] (सूरः) जैसे सूर्य (द्युता) अपने प्रकाश से [वैसे] (त्वम्) तू

तरतेस्तृच् । वृतो वा । पा० ७। २। ३८ । इति इडागमस्य दीर्घः । प्रवर्धयिता (दिवः) स्वप्रकाशात् (प्राणः) प्राणयिता । चेष्टयिता (सिन्धूनाम्) नदीनाम् (कलशान्) कलशसदृशान् मेघान् (अचिक्रदत्) क्रद आह्वानरोदनयोः—णिचि लुङि रूपम् । प्रतिध्वनिं कारितवान् (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (हार्दिम्) अ० ६। ८६। १। इद्-इज् । हार्दिकां शक्तिम् (आविशन्) प्रविशन् (मनीषया) बुद्धिमत्तया ॥

५६—(त्वेषः) त्विष दीप्तौ—पचाद्यच् । प्रकाशः (ते) तव (धूमः) वाष्पो यथा (ऊर्णोतु) आच्छादयतु (दिवि) आकाशे (सन्) श्रेष्ठः (शुक्रः) शुद्धः । शुद्धः (आततः) समन्ताद् विस्तीर्णः (सूरः) प्रेरकः सूर्यः (न) यथा (हि) निश्चयेन (द्युता) दीप्त्या (त्वम्) (कृपा) कृपू सामर्थ्ये—किप् । कृपया ।

(हि) ही (कृपा) अपनी कृपा से (रोचसे) चमकता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ के कण आकाश में व्यापक रहते हैं, वैसे ही परमात्मा को हम लोग सर्वत्र व्यापक साक्षात् करें, वह कृपालु जगदीश्वर सूर्य समान सब में प्रकाशमान है ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।२।६ और सामवेद में
पू० १।६।३ ॥

प्र वा सुतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति
संगिरः । मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कुलशे शतयामना
पथा ॥ ६० ॥ (२५)

प्र । वै । सुति । इन्दुः । इन्द्रस्य । निः-कृतिम् । सखा ।
सख्युः । न । प्र । मिनाति । सुम्-गिरः ॥ मर्यः-इव । योषाः ।
सम् । अर्षसे । सोमः । कुलशे । शत-यामना । पथा ॥ ६० ॥ (२५)

भाषार्थ—(इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर की (निष्कृतिम्) निस्तार शक्ति को (वै) निश्चय करके (प्र) आगे को (एति) पाता जाता है, (सखा) सखा [परमात्मा का मित्र जीव] (सख्युः) सखा [अपने मित्र जगदीश्वर] की (संगिरः) उचित्त वाणियों को (न) नहीं (प्र मिनाति) तोड़ देता है । (मर्यः इव) जैसे मनुष्य (योषाः) अपनी स्त्री को [प्रीति से वैसे] (सोमः) प्रेरक आत्मा तू (कुलशे) कुलस [घट रूप हृदय] के भीतर (शतयामना) सैकड़ों गति वाले (पथा) मार्ग से

दयया (पावक) हे शोधक परमात्मन् (रोचसे) दीप्यसे ॥

६०—(प्र) प्रकर्षेण (वै) निश्चयेन (एति) प्राप्नोति (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (निष्कृतिम्) निस्तारशक्तिम् । निर्मुक्तिम् (सखा) सुहृद्बन्धुजीवात्मा (सख्युः) सर्वमित्रस्य परमात्मनः (न) निषेधे (प्र) (मिनाति) मीञ् हिंसायाम् । मीनातेर्निगमे । पा० ७।३।८१ । इति ह्रस्वत्वम् । हिनस्ति (संगिरः) गृ विज्ञापने-क्विप् । संगरान् । समीचीनवचनानि (मर्यः) मनुष्यः (इव) यथा (योषाः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७।१।३६ । एकवचनस्य बहुवचनम् । योषाम् ।

[परमात्मा को] (सम्) यथाविधि (अर्षसे) प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करता है, वही पापों से छूटकर मोक्ष सुख भोगता है, और जैसे स्त्री पुरुष गृहाश्रम की सिद्धि के लिये परस्पर हार्दिक प्रीति करते हैं, वैसे ही योगी पुरुष अनेक प्रकार से अपने हृदय में परमात्मा का दर्शन करके उसके साथ प्रीति में मग्न हो जाता है ॥ ६० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ८६ । १६ और सामवेद में है—
पू० ६ । ७ । ४ तथा उ० ४ । २ । ७ ॥

मन्त्राः ६१—६८ ॥

पितरो देवताः ॥ ६१ अनुष्टुप्, ६२ भुरिगार्षी पङ्क्तिः, ६३ स्वराडार्षी पङ्क्तिः, ६४, ६५ त्रिष्टुप्, ६६ भुरिग् गायत्री, ६७ निचृदाचर्यनुष्टुप्, ६८ आसुर्यनुष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

अक्षन्मीमदन्तु ह्यव प्रियाँ अधूषत ।

अस्तौषतु स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

अक्षन् । अमीमदन्त । हि । अव । प्रियान् । अधूषत ॥

अस्तौषत । स्व-भानवः । विप्राः । यविष्ठाः । ईमहे ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—(स्वभानवः) अपना ही प्रकाश रखने वाले, (विप्राः) बुद्धिमान्, (यविष्ठाः) महाबली [पितरों] ने (अक्षन्) भोजन खाया है और

सेवनीयां स्त्रियम् (सम्) सम्यक् (अर्षसे) ऋषी गतौ, भौवादिकः । प्राप्नोषि (सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माऽप्येतस्मादेव—निरु० १४ । १२ । प्रेर-
को जीवात्मा (कलशे) घटरूपे हृदये (शतयामना) अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ ।
१३४ । इति प्राप्तस्य अकारलोपस्याभावश्छान्दसः । शतयाम्ना । बहुगतियुक्तेन
(पथा) मार्गेण ॥

६१—(अक्षन्) अद भक्षणे—लुङ्, घस्लादेशः । अधूषत । भोगान् भक्षित-
वन्तः (अमीमदन्त) मद तृप्तियोगे, चुरादेरात्मनेपदिनश्चङ्किरूपम् । आनन्दं
प्राप्तवन्तः (हि) अवधारणे (अव) निश्चयेन (प्रियान्) प्रीतिकरान् बान्धवान्

(अमीमदन्त) आनन्द पाया है, उन्होंने (हि) ही (प्रियान्) अपने प्रिय [बान्धवों] को (अव) निश्चय करके (अधूषत) शोभायमान किया है और (अस्तोषत) बड़ाई योग्य बनाया है, (ईमहे) [उन से] हम विनय करते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विनय करके विद्यावृद्ध, बलवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषों का सदा सत्कार करना चाहिये, जिस से वे प्रसन्न होकर उत्तम उत्तम शिक्षा दिया करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ८२ । २ । यजुर्वेद में ३ । ५१ और सामवेद में—पू० ५ । ३ । ७ ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पितृयानैः । आयु-
रुस्मभ्यं दधंतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥

आ । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पृथि-भिः ।
पितृ-यानैः ॥ आयुः । अस्मभ्यम् । दधंतः । प्र-जाम् । च ।
रायः । च । पोषैः । अभि । नः । सचध्वम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पितृयानैः) पितरों के चलने योग्य (पृथिभिः) मार्गों से (आ यात) आओ । (च) और (अस्मभ्यम्) हम को (आयुः) जीवन (च) और (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक

(अधूषत) धूष कान्तिकरणे—लङ् । तिङ्गां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । बहुवचनस्यैकवचनम् । अधूषन्त । शोभायमानान् कृतवन्तः (अस्तोषत) स्तुत्यान् कृतवन्तः (स्वभानवः) स्वकीया भानुर्दीप्तिः प्रकाशो येषां ते (विप्राः) मेधाविनः (यविष्ठाः) युवन्—इष्टन् । स्थूलदूरयुवह्रस्व० । पा० ६ । ४ । १५६ । इति वकारस्य लोप उकारस्य च गुणः । अतिशयेन युवानः । निसर्ग-बलिनः (ईमहे) याच्ञाकर्मा—निघ० ३ । १६ । याचामहे । प्रार्थयामहे । विनयामः ॥

६२—(आ यात) आगच्छत (पितरः) हे पालका ज्ञानिनः (सोम्यासः) प्रियदर्शना यूयम् (गम्भीरैः) गभीरगम्भीरौ । उ० ४ । ३५ । गम्भीरौ ईमहे । गम्भीरः । गम्भीरैः । गम्भीरैः (पृथिभिः) मार्गैः (पितृयानैः) पितृ-

आदि] (ददतः) देते हुये तुम (रायः) धन की (पोषैः) वृद्धियों से (नः) हमें (अभि) सब ओर (सचध्वम्) सींचो ॥ ६२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शान्तचित्त, शान्ति के मार्ग पर चलने वाले विद्वान् महात्माओं का सत्संग करते रहते हैं, वह उत्तम जीवन और श्रेष्ठ सन्तान आदि प्रजा पाकर बहुत धनी होते हैं ॥ ६२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ६।४।२२ ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पूर्याणैः । अधा
मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तु सुप्रजसः सुवीराः ॥६३॥
परा । यातु । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पृथि-भिः ।
पुः-यानैः ॥ अध । मासि । पुनः । आ । यातु । नः । गृहान् ।
हविः । अत्तुम् । सु-प्रजसः । सु-वीराः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पृथिभिः) मार्गों से (परा) प्रधानता के साथ (यात) चलो । (अध) और (पुनः) अवश्य (मासि) महीने महीने (सुप्रजसः) उत्तम प्रजाओं वाले और (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले तुम (नः) हमारे (गृहान्) घरों में (हविः) भोजन (अत्तुम्) खाने के लिये (आ यात) आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् पितर महात्माओं के दर्शन से सदा लाभ उठावें और दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि आदि नियत समय पर तौ अवश्य

भिर्गमनयोग्यैः (ददतः) प्रयच्छन्तः (सचध्वम्) सिञ्चत । अन्यद् गतम् अ० ६।४।२२ ॥

६३—(परा) प्राधान्येन । अन्यत् पूर्ववत्—म० ६२ (पूर्याणैः) अ० १८ । १।५४ । पुरो नगरान् गच्छद्भिः (अध) अथ (मासि) प्रतिमासं दर्शेष्टौ पूर्णमासेष्टौ च (पुनः) अवश्यम् (आयात) आगच्छत (नः) अस्माकम् (गृहान्) निवासान् (हविः) ग्राह्यं भोजनम् (अत्तुम्) भक्षयितुम् (सुप्रजसः)

उन के सत्संग से आनन्द पावें ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद को मिलाओ—अ० १८। ३। १४ ॥

यद् वो अ॒ग्निरज॑हादेकुम॒ङ्गं पित॑र॒लोकं ग॒मय॑ जा॒तवे॑दाः । तद् व
एतत् पुन॒रा प्या॑ययामि सु॒ङ्गाः स्व॒र्गे पि॒तरौ मा॑दयध्वम् ॥६४॥

यत् । वः । अ॒ग्निः । अज॑हात् । एक॑म् । अ॒ङ्गम् । पि॒त-लो॒कम् ।
ग॒मय॑न् । जा॒त-वे॑दाः ॥ तत् । वः । एतत् । पुनः॑ । आ ।
प्या॑ययामि । सु-अ॒ङ्गाः । स्वः-गे । पि॒तरः॑ । मा॑दयध्वम् ॥६४॥

भाषार्थ—[हे पितरो !] (वः) तुम्हारे (यत्) जिस (एकम्)
एक (अङ्गम्) अङ्ग को (पितृलोकम्) पितृ समाज में [मनुष्यों को]
(गमयन्) ले चलते हुये, (जातवेदाः) धनों के उत्पन्न करने वाले (अग्निः)
अग्नि [शारीरिक पराक्रम] ने (अजहात्) त्याग दिया है । (वः) तुम्हारे
(तत्) उस [अङ्ग] को (एतत्) अब (पुनः) निश्चय करके (आ) सब
प्रकार (प्याययामि) मैं पूरा करता हूँ, (साङ्गाः) पूरे अङ्ग वाले (पितरः)
पालक ज्ञानी होकर तुम (स्वर्गे) सुख पहुँचाने वाले पद पर (मादयध्वम्)
आनन्द पाओ ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यदि विद्वान् पिता आदि बड़ों के अङ्ग में थकान आदि से
कुछ हानि होवे, गृहस्थ सुसन्तान आदि उसका प्रतिकार करके उन्हें प्रसन्न
करें ॥ ६४ ॥

अभूद् दूतः प्र॒हितो जा॒तवे॑दाः सा॒यं न्य॑हं उ॒पव॑न्द्यो नृ॒भिः ।
प्रा॒दाः पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॑ ते अ॒क्षानु॑द्धि त्वं दे॒व प्र॑य॒ता ह॒वींषि॑ ॥६५॥

६४— (यत्) (वः) युष्माकम् (अग्निः) शारीरिकपराक्रमः (अज-
हात्) ओ हाक् त्यागे । त्यक्तवान् (अङ्गम्) अवयवम् (पितृलोकम्) विदुषां
समाजम् (गमयन्) प्रापयन् (जातवेदाः) जातान्युत्पन्नानि वेदांसि धनानि
यस्मात्सः (तत्) अङ्गम् (वः) युष्माकम् (एतत्) इदानीम् (पुनः) निश्चयेन
(आ) समन्तात् (प्याययामि) वर्धयामि । पूरयामि (साङ्गाः) सम्पूर्णावयवाः
(एतत्) एतत्पदपर्यन्तं (पितरः) (पालकजानां) (पालकजानां) (पालकजानां)

अभूत् । दूतः । प्र-हितः । ज्ञात-वेदाः । सायम् । नि-अह्ने ।
उप-वन्द्यः । नृ-भिः ॥ प्र । अदाः । पितृ-भ्यः । स्वधया । ते ।
अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्र-यता । हवींषि ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(दूतः) चलने वाला [उद्योगी] (प्रहितः) बड़ा हितकारी
(ज्ञातवेदाः) महाज्ञानी [वा महाधनी] पुरुष (सायम्) सायंकाल में और
(न्यह्ने) प्रातः काल में (नृभिः) नेताओं करके (उपवन्द्यः) बहुत प्रशंसनीय
(अभूत्) हुआ है । [इस लिये] (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को
(स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये]
(हवींषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये
हैं, (ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं, (देव) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू (अद्धि) खा । ६५

भावार्थ—उद्योगी, हितकारी विद्वान् लोग सदा से बड़े लोगों के
माननीय हुये हैं, इस लिये मनुष्य भोजन आदि से विद्वानों का सत्कार करके
अपनी रक्षा करें और कीर्ति बढ़ावें ॥ ६५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आचुका है—अ० १८ । ३ । ४२ । और
पूर्वार्द्ध का मिलान करो—ऋग्० ४ । ५४ । १ ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।

अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

असौ । है । इह । ते । मनः । ककुत्सलम्-इव । जामयः ॥

अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

६५—(अभूत्) (दूतः) दूतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ६० । दु गतौ—क्त ।
गमनशीलः । उद्योगी (प्रहितः) प्रकृष्टो हितकारी (ज्ञातवेदाः) उत्पन्नज्ञानः ।
बहुधनः (सायम्) सूर्यास्ते (न्यह्ने) निगते निश्चयेन प्राप्ते दिने । प्रातःकाले
(उपवन्द्यः) महाप्रशंसनीयः (नृभिः) नेतृभिः (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) दत्तवानसि
(पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) अधसन् ।
अभक्षयन् (अद्धि) भक्षय (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) शुद्धानि ।
प्रयत्नेन साधितानि (हवींषि) ग्राह्याणि भोजनानि ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (असौ) वह [पिता आदि] (है) निश्चय करके (इह) यहां पर [हम में] (ते) तेरे (मनः) मन को [ढकता है], (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां (ककुत्सलम्) सुख का शब्द सुनाने वाले को [अर्थात् लड़ते बालक को वस्त्र से ढकती हैं] । (भूमे) हे भूमि तुल्य [सर्वाधार विद्वान् !] (एनम्) इस [पिता आदि जन] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) तू ढक [सुख दे] ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जैसे माता पिता आदि पितर लोग छोटे प्रिय सन्तान की वस्त्र आदि से रक्षा करते और ज्ञान देते हैं, वैसे ही वे लोग उन पिता आदि को यथोचित सेवा करें ॥ ६६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद आ चुका है—अ० १८ । २ । ५०, ५१, तथा १८ । ३ । ५० और इस मन्त्र का मिलान भी उन मन्त्रों से करो ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ साद-
यामि ॥ ६७ ॥

शुम्भन्ताम् । लोकाः । पितृ-सदनाः । पितृ-सदने । त्वा ।
लोके । आ । सादयामि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(पितृषदनाः) पितरों [ज्ञानियों] की बैठक वाले (लोकाः) समाज (शुम्भन्ताम्) शोभायमान होवें, (पितृषदने) पितरों की बैठक वाले (लोके) समाज में (त्वा) तुझे (आ सादयामि) मैं बिठाता हूं ॥ ६७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी लोग ही विद्वानों के समाजों में शोभा पाते हैं, इसलिये

६६—(असौ) पित्रादिः (है) निश्चयेन (इह) अत्र । अस्मासु (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (ककुत्सलम्) क+कु कुङ् वा शब्दे—क्विप्, तुक्+षल गतौ—अच् । कस्य सुखस्य शब्दप्रापकं प्रियवाचं सन्तानम् (इव) यथा (जामयः) कुलस्त्रियः (अभि) सर्वतः (एनम्) पित्रादिकम् (भूमे) हे भूमितुल्य सर्वाधार विद्वन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सुखय ॥

६७—(शुम्भन्ताम्) शुम्भ शोभायाम् । शोभायमाना भवन्तु (लोकाः) समाजाः (पितृषदनाः) पितृणां सदनयुक्ताः (पितृषदने) पितृणां सदनयुक्ते (त्वा) त्वाम् (लोके) समाजे (आ) समन्तात् (सादयामि) स्थापयामि ॥

माता पिता आदि प्रयत्न करें कि उन के सन्तान भी विद्वानों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ६७ ॥

इस मन्त्र का पहिला पाद कुछ भेद से यजुर्वेद में है—५।२६ ॥

ये ३ 'स्माकं' पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

ये । अस्माकम् । पितरः । तेषाम् । बर्हिः । असि ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (अस्माकम्) हमारे बीच (पितरः) पितर [ज्ञानी पुरुष] हैं, (तेषाम्) उनका [यहां] (बर्हिः) उत्तम आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ध्यान रखें कि सर्वहितकारी ज्ञानी पुरुष सदा प्रतिष्ठा पावें ॥ ६८ ॥

मन्त्रौ ६६, ७० ॥

वरुणो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ।

ईश्वरनियमोपदेशः—ईश्वर के नियमों का उपदेश ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधुमं वि मध्यमं अथाय ।

अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥

उत् । उत्-तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अव । अध-
मम् । वि । मध्यमम् । अथय ॥ अध । वयम् । आदित्य ।

व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीच वाले को (वि) विविध प्रकार से (अथय) खोल दे । (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्ड-नीय जगदीश्वर ! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः)

६८—(ये) पुरुषाः (अस्माकम्) अस्माकं मध्ये (पितरः) पालका ज्ञानिनः (तेषाम्) पितृणाम् (बर्हिः) उत्तमासनम् (असि) प्रथमस्य मध्यम-पुरुषः । अस्ति । भवति ॥

६६—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७।८३।३ ॥

निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ६६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन कर के धर्माचरण से भूत, भविष्यत्, और वर्तमान क्लेशों को अलग कर के सदा सुखी रहें ॥ ६६ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ८३ । ३ ॥

अस्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते
यैर्व्यामे । अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता
रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२६)

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । यैः । सम्-
आमे । बध्यते । यैः । वि-आमे ॥ अध । जीवेम । शरदम् ।
शतानि । त्वया । राजन् । गुपिताः । रक्षमाणाः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (यैः) जिन [फन्दों] से (समामे) लूत रोग में, और (यैः) जिन से (व्यामे) विशेष रोग में (बध्यते) [प्राणी] बांधा जाता है । (अध) तब (राजन्) हे राजन् ! [परमेश्वर] (त्वया) तुझ कर के (गुपिताः) रक्षा किये गये और (रक्षमाणाः) [दूसरों की] रक्षा करते हुये हम (शतानि) सैकड़ों (शरदम्) बरसों तक (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई रोग परस्पर लूत से वा कुपथ्य आदि दोष से हो जावें, परमेश्वर की उपासना करते हुये वैद्यराजों की सम्मति से उन रोगों का निवारण करके स्वस्थ रहकर सब की रक्षा करें ॥ ७० ॥

७०—(प्रमुञ्च) सर्वथा मोचय (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (वरुण) हे दुःखनिवारकपरमात्मन् (सर्वान्) (यैः) पाशैः (समामे) सम्+अम रोगे पीडने—घञ् । संगतिरोगे । सम्पर्केण प्राप्ते रोगे (बध्यते) बन्धं प्राप्नोति (यैः) (व्यामे) विशेषरोगे (जीवेम) पाणान् धारयेम (शरदम्) शरदः । संवत्सरान् (शतानि) बहुसंख्याकानि (त्वया) (राजन्) हे शासक परमात्मन् (गुपिताः) रक्षिताः (रक्षमाणाः) अन्यान् रक्षन्तः ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आ चुका है—अ० ७। ८३। ४ ॥

मन्त्र ७१—८७ ॥

पितरो देवताः ॥ ७१ आसुर्यनुष्टुप् ; ७२—७४, ७५ आसुरी पङ्क्तिः ; ७५ आसुरी गायत्री ; ७६ आसुर्युष्णिक् ; ७७ दैवो जगती ; ७८ आसुरी त्रिष्टुप् ; ८० आसुरी जगती ; ८१ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ८२ साम्नी बृहती ; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुप् ; ८५ आसुरीबृहती ; ८६ भुरिगायुष्णिक् ; ८७ निचृदायुष्णिक् ॥
पितृसन्मानोपदेशः—पितरों के सन्मान का उपदेश ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥

अग्नये । कव्य-वाहनाय । स्वधा । नमः ॥ ७१ ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥

सोमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥

पितृ-भ्यः । सोमवत्-भ्यः । स्वधा । नमः ॥ ७३ ॥

युमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥

युमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—(कव्यवाहनाय) बुद्धिमानों को हितकारी पदार्थों के पहुँचाने वाले (अग्नये) विद्वान् पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठमातापिता वाले (सोमाय) प्रेरक पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

(सोमवद्भ्यः) बड़े ऐश्वर्य वाले (पितृभ्यः) पितरों [माता पिता

७१—(अग्नये) विदुषे पुरुषाय (कव्यवाहनाय) कविर्मैधाविनाम—
निघ० ३। १५। कविभ्यो मैधाविभ्यो हितपदार्थानां प्रापकाय (स्वधा) अन्नम्
निघ० २। ७ (नमः) सत्करणम् ॥

७२—(सोमाय) प्रेरकपुरुषाय (पितृमते) प्रशस्तमातापितृभिर्युक्ताय ।
अन्यत् पूर्ववत् ॥

७३—(पितृभ्यः) मातापित्रादिपालकज्ञानिभ्यः (सोमवद्भ्यः) परमैश्वर्य-

आदि पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठ माता पिता वाले (यमाय) न्यायाधीश राजा को (स्वधा) अन्न (नमः) नमस्कार हो ॥ ७४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विविध प्रकार के विद्वान् माननीय पुरुषों का अन्न आदि से सत्कार करके विविध शिक्षा ग्रहण करें ॥ ७१—७४ ॥

मन्त्र ७१, ७२ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—२। २६ ॥

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

एतत् । ते । प्र-ततामह । स्वधा । ये । च । त्वाम् । अनु ॥ ७५ ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥

एतत् । ते । ततामह । स्वधा । ये । च । त्वाम् । अनु ॥ ७६ ॥

एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥ एतत् । ते । तत । स्वधा ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—(प्रततामह) हे परदादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो, (च) और [उन के लिये भी अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७५ ॥

(ततामह) हे दादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो, (च) और [उन के लिये अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७६ ॥

(तत) हे पिता ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥ ७७ ॥

भावार्थ—सन्तानों को चाहिये कि बड़ों से आरंभ करके परदादी परदादा, दादो दादा माता पिता आदि मान्यों की अन्न आदि से सेवा करके उत्तम शिक्षा और आशीर्वाद पावें ॥ ७५—७७ ॥

युक्तेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७४—(यमाय) न्यायाधीशाय राज्ञे (पितृमते) म० ७२ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७५—(एतत्) अत्र (ते) तुभ्यम् (प्रततामह) तनु विस्तारे—क । तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा—निरु० ६। ६ । पितृव्यमातुलमाता-महपितामहाः । पा० । ४ । २ । ३६ । प्रतत—डामहच्, बाहुलकात् । हे प्रपिता-मह (स्वधा) अन्नम् (ये) (च) तेभ्यश्च (त्वाम्) (अनु) अनुसृत्य वर्तन्ते ॥

७६—(ततामह) म० ७५ । हे पितामह । अन्यत् पूर्ववत् ।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । पृथिविसत्-भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । अन्तरिक्षसत्-भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

स्वधा । पितृ-भ्यः । दिविसत्-भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

भाषार्थ—(पृथिविषद्भ्यः) पृथिवी की विद्या में गति वाले (पितृ-भ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७८ ॥

(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७९ ॥

(दिविषद्भ्यः) प्रकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ८० ॥

७८—८० इन मन्त्रों का मिलान करो यजु० ६ । २ ॥

भावार्थ—जो पितर पण्डित लोग पृथिवी अर्थात् राज्यविद्या, भूगर्भ विद्या आदि में चतुर हों, जो ज्योतिषी आकाश विद्या अर्थात् सौर मण्डल, तारामण्डल, वायुमण्डल आदि विद्या में दक्ष हों और जो महापुरुष अन्य व्यवहारों अर्थात् संग्राम विद्या, धर्म शिक्षा आदि विद्या में गुणी हों, सब मनुष्य ऐसे महात्माओं का सदा आदर करते रहें ॥ ७८—८० ॥

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥

नमः । वः । पितरः । ऊर्जे । नमः । वः । पितरः । रसाय ॥ ८१ ॥

नमो वः पितरो भासाय नमो वः पितरो मुन्यवे ॥ ८२ ॥

७८—(स्वधा) अन्नम् (पितृभ्यः) पालकज्ञानिभ्यः (पृथिविषद्भ्यः) पृथिवीविद्यायां गतिशीलेभ्यः ॥

७९—(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८०—(दिविषद्भ्यः) सप्तम्या अलुक् । प्रकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नमः । वः । पितरः । भामाय । नमः । वः । पितरः । मन्यवे
 नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ८३
 नमः । वः । पितरः । यत् । घोरम् । तस्मै । नमः । वः ।
 पितरः । यत् । क्रूरम् । तस्मै ॥ ८३ ॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत्
 स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥

नमः । वः । पितरः । यत् । शिवम् । तस्मै । नमः । वः ।
 पितरः । यत् । स्योनम् । तस्मै ॥ ८४ ॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥

नमः । वः । पितरः । स्वधा । वः । पितरः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (ऊर्जे) पराक्रम
 पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो !
 [पालक ज्ञानियो] (रसाय) रस [ज्ञानरस, ओषधिरस, और दूध, जल,
 विद्या आदि रस] पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८१ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (भामाय) प्रताप की प्राप्ति
 के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक
 ज्ञानियो] (मन्यवे) क्रोध की निवृत्ति के लिये (वः) तुम को (नमः)
 नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (घोरम्)

८१—(नमः) सत्करणम् (वः) युष्मभ्यम् (पितरः) हे पित्रादिपालक-
 ज्ञानिनः (ऊर्जे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ ।
 तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । ऊर्जं पराक्रमं प्राप्तुम् (रसाय) ज्ञानरसौषधिरस-
 दुग्धजलविद्यादिरसान् प्राप्तुम् । अन्यद् गतम् ॥

८२—(भामाय) अर्चिस्तुसुहृत्पृच्छिन्नुभा० । उ० १ । १४० । भा
 दीप्तौ—मन् । भामं प्रकाशं प्रतापं प्राप्तुम् (मन्यवे) यथा म० ८१ । मन्युं क्रोधं
 निवर्तयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

घोर [दारुण दुःख] है, (तस्मै) उसे हटाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (क्रूरम्) क्रूर [निर्दयता] है, (तस्मै) उसे दूर करने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (शिवम्) मङ्गलकारी है, (तस्मै) उसे पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (स्योनम्) सुखदायक है, (तस्मै) उसके लाभ के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८४ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम्हारे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥ ८५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पराक्रम आदि शुभ गुणों की प्राप्ति के लिये और क्रोध आदि दुर्गुणों की निवृत्ति के लिये ज्ञानी पितरों का अनेक प्रकार सत्कार करके सदुपदेश ग्रहण करें ॥ ८२—८५ ॥

८१—८५ इन मन्त्रों का मिलान करो—यजुर्वेद २ । ३२ तथा महर्षिदयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पितृयज्ञविषय ॥

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ ८६ ॥

ये । अत्र । पितरः । पितरः । ये । अत्र । यूयम् । स्थ । युष्मान् । ते । अनु । यूयम् । तेषाम् । श्रेष्ठाः । भूयास्थ ॥ ८६ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः । अस्मांस्तेऽनु वयं तेषां

इन हिंसागत्योः—अच्, घुरादेशः । भयानकं दारुणं दुःखम् (तस्मै) यथा म० ८१ । तन्नाशयितुम् (क्रूरम्) कृतेश्छः क्रू च । उ० २ । २१ । कृती छेदने—रक, क्रू इत्यादेशः । निर्दयत्वम् (तस्मै) तद्दूरीकर्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८४—(यत्) (शिवम्) कल्याणकरम् (तस्मै) तत् प्राप्तुम् (यत्) (स्योनम्) सुखम् (तस्मै) तल्लब्धुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८५—(स्वधा) अन्नम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

ये । इह । पितरः । जीवाः । इह । वयम् । स्मः ॥ अस्मान् ।

ते । अनु । वयम् । तेषाम् । श्रेष्ठाः । भूयास्म ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अत्र) यहां (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, (ये) जो (वयम्) तुम (अत्र) यहां पर (पितरः) पितर (स्थ) हो, (ते) वे लोग (युष्मान् अनु) [उन] तुम्हारे अनुकूल होवें, और (वयम्) तुम (तेषाम्) उन के बीच (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्थ) होओ ॥ ८६ ॥

(ये) जो (इह) यहां पर (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, [उन के अनुग्रह से] (वयम्) हम (इह) यहां पर (जीवाः) जीवते हुये [सचेत] (स्मः) हैं, (ते) वे लोग (अस्मान् अनु) हमारे अनुकूल होवें और (तेषाम्) उनके बीच (वयम्) हम (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्म) होवें ८७

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानी पितर लोग मिलकर संसार का उपकार करें, जिन के अनुग्रह से सब मनुष्य सचेत और श्रेष्ठ होवें ॥ ८६, ८७ ॥

मन्त्रः—८८ ॥

अग्निर्देवता ॥ स्वराडापी बृहती छन्दः ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

आ त्वाग् इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् । यद् घु सा ते पनीयसी
सुमिद् दीदयति द्यवि । इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

आ । त्वा । अग्ने । इधीमहि । द्यु-मन्तम् । देव । अजरम् ॥

यत् । घु । सा । ते । पनीयसी । सुम्-इत् । दीदयति । द्यवि ॥

इषम् । स्तोतृ-भ्यः । आ । भर ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—(देव) हे आनन्दप्रद ! (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (द्युमन्तम्) प्रकाशयुक्त (अजरम्) अजर [जरारहित, सदा बलवान्]

८६—(ये) (अत्र) अस्मिन् संसारे (पितरः) पालका ज्ञानिनः (वयम्) (स्थ) भवथ (युष्मान्) पितृन् (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुकूल्य (वयम्) (तेषाम्) तेषां मध्ये (श्रेष्ठाः) प्रशस्यतमाः (भूयास्थ) तस्य यनादेशः । भूयास्त ॥

८७—(जीवाः) जीवनवन्तः । सचेतसः (इह) (वयम्) (स्मः) भवामः (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुसृत्य । अनुकूल्य (वयम्) अन्यत् पूर्ववत् ॥

८८—(आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (इधीमहि) इन्धेर्लिङि रूपम् । दीपयेम (द्युमन्तम्) दीप्तिमन्तम् (देव)

(त्वा) तुझ को (आ) सब ओर से [हृदय में] (इथीमहि) हम प्रकाशित करें । (यत्) जो (सा) वह (घ) निश्चय कर के (ते) तेरी (पनीयसी) अति प्रशंसनीय (समित्) चमक (द्यवि) चमकते हुये [सूर्य आदि में] (दीदयति) चमकती है । [उस से] (इषम्) इष्ट पदार्थ को (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों के लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ८८ ॥

भावार्थ—जो अजर अमर जगदीश्वर सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थों का प्रकाशक है, उस प्रकाशस्वरूप को हृदय में धारण करके अपने नेत्रों को दिव्य बनावें और प्रत्येक वस्तु में उस की ज्योति देख कर प्रत्येक वस्तु से इष्ट मनोरथ सिद्ध करें ॥ ८८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ६ । ४ और सामवेद में ५० ५ । ४ । १ तथा उ० ३ । २ । २१ ॥

मन्त्रः—८८ ॥

विश्वेदेवा देवताः ॥ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

सूर्यचन्द्रादिविषयोपदेशः—सूर्य चन्द्र आदि के विषय का उपदेश ॥

चन्द्रमा अप्सु अन्तरा सुपूर्णं धावते दिवि । न वो हिरण्य-
नेमयः पुदं विन्दन्ति विद्युतो वितं मे अस्य रोदसी ॥ ८८ ॥ (२५)
चन्द्रमाः । अप्सु-सु । अन्तः । आ । सु-पूर्णः । धावते । दिवि ॥
न । वः । हिरण्य-नेमयः । पुदम् । विन्दन्ति । वि-द्युतः ।
वित्तम् । मे । अस्य । रोदसी इति ॥ ८८ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सुपूर्णः) सुन्दर पूर्ति करने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्र लोक (अप्सु अन्तः) [अपने] जलों के भीतर (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आ धावते) दौड़ता रहता है । (हिरण्यनेमयः) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मा में सीमा रखने वाले (विद्युतः) विविध प्रकाशमान [सब लोको !] (वः)

हे सुखप्रद (अजरम्) जरारहितम् । बलवन्तम् (यत्) विभक्तेर्लुक् । या (घ) निश्चयेन (सा) प्रसिद्धा (ते) तव (पनीयसी) पनतिः स्तुतिकर्मा । स्तुत्य-तरा (समित्) सम्यग् दीप्तिः (दीदयति) दीप्यते (द्यवि) द्योतमाने सूर्यादौ (इषम्) इष्टं पदार्थम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

८८—(चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (अप्सु) स्वमण्डलस्थेषु जलेषु (अन्तः) मध्ये (आ) समन्तात् (सुपूर्णः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । सु + पू पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः । सुष्ठु पूरयिता (धावते) शीघ्रं गच्छति (दिवि) सूर्यस्य प्रकाशे (न) निषेधे (वः) युष्माकम् (हिरण्यनेमयः) हर्यतेः कन्यन् हिर्च । उ० ५ । ४४ । हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन् । नियो मिः । उ० ४ । ४३ । एीञ् मण्यो—मिपत्ययः । हिरण्ये कमनीये प्रकाशस्वरूपे परमात्मनि नेमिः सीमा

तुम्हारे (पदम्) ठहराव को (न विन्दन्ति) वे [जिज्ञासु लोग] नहीं पाते हैं, (रोदसी) हे पृथिवी और सूर्य के समान स्त्री पुरुषों ! (मे) मेरे (अस्य) इस [वचन] का (वित्तम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥ ८६ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा अपने मण्डल के समुद्रों पर सूर्य की किरणों के पड़ने से प्रकाशित होकर अपनी जलमय शीतल किरणों द्वारा पृथिवी के पदार्थों को पुष्ट करता है, इस के अतिरिक्त परमात्मा को अनन्त रानाओं, अनन्त सूर्य पृथिवी आदि लोकों को जिज्ञासु लोग खोजते जाते हैं और अन्त नहीं पाते । उस जगदीश्वर को महिमा को जानकर सब स्त्री पुरुष अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ८६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १०५ । १ और सामवेद में पू० ५ । ३ । ६ और पहिले दो पाद यजुर्वेद में हैं—३३ । ६० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम श्रीपयाजीराव गायक-

वाङ्माधिराज बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास दक्षिणापरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना ।

कृते अथर्ववेदभाष्ये अष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णैकादश्यां तिथौ १९७१ [पञ्चमसप्तत्युत्तर

एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—ज्येष्ठ शुक्ला १० संवत् १९७६ वि०, ता० ८ जून १९१६ ई० ॥

येषां ते तथा भूतास्तत्सम्बुद्धौ (पदम्) स्थितिम् (विन्दन्ति) लभन्ते (विद्युतः) वि + द्युत दोस्तौ—क्विप् । हे विविध प्रकाशमानलोकाः (वित्तम्) जानीतम् । ज्ञानं कुरुतम् (मे) मम (अस्य) वचनस्य (रोदसी) हे द्यावापृथिव्याविव प्रजे स्त्री-

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियाँ

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर
अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति ।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेम-
करणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे
उपस्थित हुआ । निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी
जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और
अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ ई०
के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बने
तथा अन्यो को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं०
क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में
भेजते रहें । इन धन क-बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो
पूर्वाक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या
५८१६ प्राप्त २० जुलाई १९१६)

॥ ओ३म ॥

मान्यवर नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं०
क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का
भाष्य कर रहे हैं । आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने
का प्रयत्न किया है । भाष्य कांडों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके
हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः वह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य
हो रहा है त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारी ने खूब प्रशंसा की है ।
परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने को और
लोगों को बहुत कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थहानि उठा रहे हैं ।
भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं । लागत तक वसूल नहीं होती । वेदों का पढ़ना
पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है । अतएव सविनय
निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य
में साहस प्रदान करें । स्वयं ग्राहक बने और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से
भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर
भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे ।
आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ
कर्त्तव्य समझेंगे । प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये । समाज के
पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही जरूरी है । भाष्य के प्रत्येक कांड का
मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है ।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये ।
जल्दी से भाष्य को मंगाइये ।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध बुलन्दशहर ।

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीयकांड मिला । इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य का समृद्धिशील बनाने में बड़ी कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये । ईश्वर आपको उत्तमोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रखें यही प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश गेहड़ —१६१३ ।

ऋग् जुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जीने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलन लगेंगे आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १६१३ ।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धा परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी को भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संचित और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों, में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमि का दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पंथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रखें ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो... छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय—सुन्शीरामजी जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता कुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूँ आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६।

अवलोकन करने से उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार,
वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि
सम्पादक आर्यमित्र-८ फरवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। ... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीयभाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित—भीमसेन शर्मा इटावा उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता
वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फरवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है। भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का भुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी
अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५ ॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभी पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवाँ कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः को जिसका मूल्य १)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है ।

श्रीयुत पंडित—महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फरवरी १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत जेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रमका यह फल है कि आपने अथर्ववेद को भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है... बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं । स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्त्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है... आपकी राय है कि “वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है” । आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है ।

श्रीयुत पंडित—गणेश प्रसाद शर्मा सम्पादक भारत सुदशाप्रवर्तक फतेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३ ।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किये गये हैं, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है ।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सिल्क मर्चेंट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना ।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, जिला फतेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ “अथर्ववेद भाष्य” निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें ।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा पाठ्य है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १८७३ (२५ जून १८९६-
लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—
स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पण्डित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पण्डित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हजार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे सम्बन्ध सम्बन्धी भागड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।..... इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पण्डित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पण्डित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपने सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है..... त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*,
letter No 624 dated 6th February 1913.

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled
अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the
prize distribution. Please send them ..also add on the address lable
“ For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail
Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks
volumes for your energies and perseverance that you should have
undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-
power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of love and hope...the venture will
not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy
each of the 1st and 3rd Kandas of *Atharva Veda Bhashya* to this office
for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*,

which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das
Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship.
The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book.
There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-
eminent position in Sanskrit literature ... The arrangement is good,
the original *Mantra* is followed by a literal translation and their
bhavarth or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious ;
they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words
quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of
Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other
standard ancient works... The Pandit appears to have laboured very
hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars
may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya,
who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the
Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross
references to verses where the word has already occurred in this
Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can
be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these
which shall render the task easy to others are commendable. We are
glad to call public attention to this scholarly work, and hope that
Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he
so richly deserves Our earnest request is that the revered Pandit
will go on with this noble work and try to finish the whole before he is
called to eternal rest

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.